भट्ट-निबन्धावली

स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण जी भट्ट के श्रेष्ठ
और सुन्दर निबन्धों का संग्रह

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

२२७८

सुलभ-साहित्य-माला

भट्ट-निबन्धावली

स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण जी भट्ट के श्रेष्ठ और सुन्दर निबन्धों का संग्रह

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल
धनञ्जय भट्ट 'सरल'

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

द्वितीय संस्करण] संवत् २००५ [मूल्य

प्रकाशकीय

स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी के निर्माताओं में विशिष्ट स्थान है। आपने तन, मन और धन से हिन्दी की जो सेवा की है, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्व है। भट्ट जी ने साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपूर्व रचनायें की हैं। उनके निबंधों की मौलिकता, सरसता और गम्भीरता साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी की अमूल्य निधि है। इस पुस्तक में आपके बत्तीस उच्च कोटि के निबंध संग्रहीत हैं। स्वर्गीय भट्ट जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी हो चुके हैं। ऐसी दशा में सम्मेलन का यह कर्त्तव्य भी था कि वह भट्ट जी की कृतियों का प्रकाशन करे। हमें पूर्ण आशा है कि इस 'भट्ट-निबंधावली' के द्वारा हिन्दी में निबंध-साहित्य की एक विशेष कमी की पूर्ति होगी। विद्वानों और हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का इससे विशेष उपकार होगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

विनीत,

प्रयाग — ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल

१ जनवरी १९४२ — साहित्य-मंत्री

निवेदन

पण्डित बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के स्वाभिमानी लेखक थे। उन्हें स्वदेश और स्व-संस्कृति का अत्यधिक प्रेम था। उनके 'हिन्दी-प्रदीप' का एक-एक पृष्ठ नहीं, एक-एक शब्द हमारे इस कथन का प्रमाण है। हिन्दी-भाषी नवयुवकों को अपने इस महारथी की रचनाओं को पढ़कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिए।

भट्ट जी की रचनाये पढ़ने का सौभाग्य मुझे उतना अधिक पहले नहीं मिला था। भला हो पण्डित धनञ्जय भट्ट का कि मुझे उन्होंने उनके पढ़ने का अवससर दे दिया, और मेरी आँखें खुल गईं। इसमे सन्देह नहीं, भट्ट जी हिन्दी के लेखक ही नहीं, वे उसके सच्चे निर्माता थे।

इस 'निबन्धावली' के तैयार करने में धनञ्जय जी ने काफी अधिक परिश्रम किया है। वे भट्ट जी के पौत्र हैं और उनके पास 'हिन्दी-प्रदीप' की पूरी की पूरी फाइल है। परन्तु मुख्य बात तो यह है कि उन्होंने उसका अध्ययन भी किया है। इसी से 'भट्ट-निबन्धावली' इस सुन्दर रूप में तैयार हो सकी है। मैंने तो केवल इसका प्रूफ भर पढा है या फिर किसी-किसी निबन्ध का कुछ अश निकाल दिया है तो कहीं-कहीं छापे की भूल समझ कर उसे सुधार देने की ढिठाई की है। परन्तु यह अपराध भी मैंने बहुत सँभल कर इसलिए किया है कि भट्ट जी की 'मौलिकता' अक्षुण्ण रहे—उनकी वस्तु ज्यों की त्यों रहे।

इन निबन्धों को पढ़कर हिन्दी के पाठक जान सकेंगे कि भट्ट जी कितने ऊँचे पाये के सुलेखक थे और आज हिन्दी के इस अभ्युदय-

काल में भी वे उनसे कितना सीख सकते हैं। हमें विश्वास है, इस निबन्धावली का हिन्दी के साहित्यिक इसके अनुरूप ही आदर करेंगे।

इंडियन प्रेस, प्रयाग
१६ दिसम्बर १६४१

देवीदत्त शुक्ल

परिचय

इस 'भट्ट-निबन्धावली' में स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट के चुने हुए निबन्धों का संग्रह किया गया है। अतएव यह आवश्यक है कि भट्ट जी का यहाँ कुछ परिचय दे दिया जाय।

भट्ट जी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं में हैं। ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन उन इने-गिने साहित्यकारों में थे जिन्होंने हिन्दी की सेवा में अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था। भट्ट जी अपने समय के संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, कर्मकाण्ड इत्यादि सभी विषयों के पूर्ण पंडित थे। वेदान्त, सांख्य, पुराण, दर्शन इत्यादि में भी अद्भुत गति थी। संस्कृत के ऐसे महान् पंडित होते हुए भी मातृभाषा हिन्दी की ओर उनका अनन्य प्रेम था।

भट्ट जी हिन्दी में बचपन से ही लिखने लगे थे। स्कूल में हिन्दी में वाद-विवाद और निबन्ध-रचना में सदैव भाग लेते और प्रथम रहते थे। कदाचित् सन् १८७२ ई० के लगभग 'कलिराज की सभा' शीर्षक इनका पहला लेख भारतेन्दु जी की 'कविवचन-सुधा' में छपा था। इसके उपरान्त 'रेल का विकट खेल', 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' इत्यादि उनके कई लेख 'कविवचन-सुधा' में निकले। उन सभी लेखों की प्रशंसा हुई। इसके बाद उनके लेख 'काशी-पत्रिका', 'बिहार-बन्धु' आदि में भी निकलने लगे।

भारतेन्दु जी भट्ट जी की बहुत प्रशंसा किया करते थे और जब कभी प्रयाग आते, उनसे बड़े प्रेम से मिलते थे। भारतेन्दु जी प्रायः कहा करते थे कि 'हमारे बाद हिन्दी में भट्ट जी की ही लेखनी चम-

केशी' और इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु जी के बाद हिन्दी के सुलेखकों में भट्ट जी का पद सर्वोच्च था।

सन् १८७७ ई० में प्रयाग में कुछ हिन्दी-प्रेमियों और कालेज के विद्यार्थियों ने हिन्दी की उन्नति के लिए 'हिन्दी-प्रवर्द्धनी' नाम की एक सभा स्थापित की। सभा के कार्य-कर्ताओं में हिन्दी की उन्नति और प्रचार के लिए बड़ा उत्साह था। अतएव यह निश्चय किया गया कि एक पत्र निकाला जाय। सभा के संन्चालकों मे कुछ धनी भी थे। उन्होंनें इस राय को पसन्द किया और पाँच-पाँच रुपये के शेयर बना कर तत्काल ही थोड़ा-सा रुपया इकट्ठा कर लिया गया और पत्र के निकालने की तैयारी हो गई। जिस समय सभा का अधिवेशन होने वाला था, संयोगवश भारतेन्दु जी प्रयाग में उपस्थित थे। 'हिन्दी-प्रवर्द्धिनी-सभा' के कार्यकर्ताओं का हिन्दी-प्रेम देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और लोगों के आग्रह करने पर उस अधिवेशन का सभापति होना उन्होंने स्वीकार किया। भारतेन्दु जी के आग्रह से तत्काल ही पत्र निकालना निश्चित हो गया। उन्हीं की सम्मति से भट्ट जी उसके सम्पादक नियुक्त किये गये। पत्र का नाम 'हिन्दी-प्रदीप' रक्खा गया और उसका मोटो हुआ—

शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनँद भरै।
बचि दुसह दुरजन बायु सों मणिदीप सम थिर नहिं टरै।
सूझै बिवेक बिचार उन्नति, कुमति सब यामें जरै।
'हिन्दी-प्रदीप' प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै।

भारतेन्दु जी का ही रचा हुआ यह पद्य था।

यह मासिक पत्र भाद्रपद संवत् १९३४ तदनुसार सितम्बर १८७७ ई० से निकलना प्रारम्भ हुआ।

'हिन्दी-प्रदीप' के निकलने के कुछ ही समय बाद सरकार ने 'वर्नाक्युलर प्रेस-एक्ट' पास किया, जिससे भयभीत होकर 'हिन्दी-प्रदीप'

के हितैषियों ने उससे अपना सम्बन्ध भंग कर लिया, अतएव पत्र का सारा भार भट्ट जी पर आ पड़ा। पत्र बराबर चलता रहा और भट्ट जी के लेख 'हिन्दी-प्रदीप' में ही छपते थे।

'हिन्दी-प्रदीप' मे उनके सैकड़ों-हजारों लेख छपे होंगे। संस्कृत के प्राचीन कवियों और ग्रन्थकारों के जीवन-चरित, श्री मद्भागवत, वाराही-संहिता, गीता और सप्तशती की आलोचनायें तथा षट्दर्शन-संग्रह का भाषानुवाद आदि सब लिख कर उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। कविता-सम्बन्धी अनोखी सूझ उपयुक्त क्रिया, उपयुक्त विशेषण, अनोखी उपमा, नई गढ़न्त कहावतों के नये अर्थ, संस्कृत की अनूठी उक्तियाँ, संस्कृत की लोकोक्तियाँ इत्यादि कितने ही अनुपम और उपयोगी विषय लिख-लिख कर उन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' में छापे। नाटक, उपन्यास, प्रहसन आदि की तो उसमें भरमार ही रहा करती। प्राचीन देश, नगर, नदी, पर्वतों आदि का खोज-पूर्ण अद्भुत वर्णन भी 'हिन्दी-प्रदीप' मे किया गया। 'नृपति-चरितावली' नामक लेख-माला मे इस देश की छोटी-बडी सभी रियासतों का हाल भी पूर्णतः छपा। हँसी-दिल्लगी, चोज की बातें भी उसमें न जाने कितनी छपती रहीं। मतलब यह कि हिन्दी-प्रदीप' अपने समय का एक श्रेष्ठ उपयोगी मासिक पत्र था।

इस पत्र के अधिकाश लेख स्वय भट्ट जी के लिखे हुए होते थे। परन्तु उन्हें उस समय के अन्यान्य लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों का भी सहयोग प्राप्त था, जिनमे से कुछ के नाम ये हैं—पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० श्रीधर पाठक, प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री राधामोहन गोकुल जी, बाबू सूर्यकुमार वर्मा, प० मधुमगल मिश्र, पं० हरिमंगल मिश्र, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, बाबू जगमोहन वर्मा, श्री गणपति जानकीराम दुबे, प० अनन्तराम पाण्डे, कविवर माधव शुक्र इत्यादि।

भट्ट जी के 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित लेखों की समालोचना भी अकसर अन्य पत्र-पत्रिकाओं मे होती रहती थी। 'श्री वैंकटेश्वर-समाचार', 'हिंदी-बंगवासी', 'समालोचक' इत्यादि पत्रों में कभी-कभी इनके विषय मे कटूक्तियाँ लिखी गई। भट्ट जीने भी उनका समुचित उत्तर दिया और उनकी खूब खरी गहरी चुटकियाँ लीं।

भट्ट जी अनेक कठिनाइयों और आर्थिक सकटों को सहन करते हुए ३२ वर्ष तक जिस निर्भीकता के साथ 'हिन्दी-प्रदीप' निकालते रहे, यह हिंदी पत्रों के इतिहास मे सदा चिरस्मरणीय रहेगा। आजकल के हिंदी सम्पादकों के लिए उस समय के हिंदी सम्पादकों की कठिनाइयों का अनुमान कर सकना भी असम्भव है। 'हिन्दी-प्रदीप' के मुख्य ग्राहकों की सख्या कभी दो सौ से अधिक नहीं हुई। भट्ट जी बराबर घाटा उठाते रहे, पर उन्होंने पत्र बन्द नहीं होने दिया। वे कायस्थ-पाठशाला कालेज मे संस्कृत के अध्यापक थे। जो कुछ वेतन मिलता था वह पूरा का पूरा हर महीने सीधे प्रेस का बिल चुकाने में चला जाता था और कभी-कभी तो महीने के प्रारम्भ में ही अपनी सारी तनख्वाह प्रेसवालों को ही देकर छूँछे हाथ घर आते थे। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने ३२ वर्ष तक पत्र का सम्पादन किया किन्तु, जीवन भर में शायद ही कभी कोरे कागज पर लिखा होगा। वे अपने तमाम लेख इम्तिहान की कापियों की दूसरी ओर के कोरे अंश पर अथवा समाचार-पत्रों के रैपरों पर लिखा करते थे। उन का सारा जीवन ही लक्ष्मी और सरस्वती की परस्पर प्रतिस्पर्धा का एक जीवित उदाहरण था।

भट्ट जी किसी गरीब कुटुम्ब में पैदा हुए हों, यह बात न थी। उनके पिता और भाई व्यापार करते थे। शहर में जायदाद भी थी। पर इनको पिता और भाई के धन की स्वप्न में भी चाह न थी।

कहना न होगा कि भट्ट जी किन-किन आर्थिक संकटों को उठाते

हुए हिन्दी की ओर अविचल भक्ति के कारण लगातार ३२ वर्ष तक 'हिन्दी-प्रदीप' निकालते चले गये। अन्त में संवत् १९६७ अर्थात् सन् १९१० ई० में उनके एक लेख पर सरकार ने पत्र से जमानत माँगी। यही नहीं, एक सभा का सभापतित्व करने पर उन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। ऐसी दशा में उन्हें अपना प्रिय पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' बन्द कर देना पड़ा। इसके उपरान्त कालाकाँकर से निकलने वाले 'सम्राट्' नामक साप्ताहिक-पत्र का उन्होंने कुछ दिन सम्पादन किया। इस समय वे 'कर्मयोगी', 'मर्यादा', 'सम्राट्' इत्यादि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी लेख लिखते रहे। फिर बाबू श्यामसुन्दरदास के बुलाने पर 'सम्राट्' को छोड़कर वे काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्दसागर' नामक बृहत कोष के सम्पादन के लिए बनारस चले गये और उसे पूर्ण उपयोगी बनाने में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया। दिसम्बर १९१३ ई० में वे प्रयाग लौट आये और वहीं श्रावण शुक्ल १३ तदनुसार १४ सितम्बर १९१४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

भारतेन्दु जी के बाद हिन्दी-क्षेत्र में भट्ट जी का युग कहा जाय तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। उनका सम्पर्क उस समय के प्रायः सभी बड़े-बड़े हिन्दी-साहित्यकारों से था। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० राधाचरण गोस्वामी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्द-नारायण मिश्र, पं० शिवनाथ मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० किशोरी लाल गोस्वामी, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं मदनमोहन मालवीय, बाबू गंगाप्रसाद गुप्त इत्यादि से उनका आधिक परिचय और विशेष सम्बन्ध था।

भट्ट जी तेजस्वी लेखक थे। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उनके लेखों की भाषा विषय के अनुसार होती थी यदि वे हास्य या ठठोल लिखते थे तो भाषा भी वैसी ही हास्यमयी, रसीली

और ठठोल रहती थी। यदि किसी पर कटाक्ष करते थे तो भाषा भी व्यंग्यपूर्ण रहती थी। यदि शृंगार-रस लिखते थे तो भाषा भी मोहक और सौन्दर्य से पूर्ण रहती थी और यदि किसी गम्भीर विषय पर लिखते थे तो भाषा भी उत्कृष्ट और गम्भीर रहती थी। परन्तु उनके सभी प्रकार के लेख कहानियों जैसे मनोरंजक होते थे। यह उनके लेखों की एक विशेषता थी।

भट्ट जी के अब तक ४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी पहली रचना 'नूतन ब्रह्मचारी' सन् १८७७ ई० के लगभग प्रकाशित हुई थी। यह एक अनुपम उपन्यास है, जो 'हिन्दी-प्रदीप' से उद्धृत कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया था। थोड़े ही समय में इस पुस्तक के कई संस्करण हुए और हिन्दी-संसार ने उसका यथोचित आदर किया। इसके कुछ समय बाद भट्ट जी की दूसरी पुस्तक 'शिक्षा-दान' 'हिन्दी-प्रदीप' से उद्धृत कर प्रकाशित हुई। यह एक प्रहसन है; इसका भी बड़ी मान हुआ और पुस्तक हाथों हाथ बिक गई। तीसरी पुस्तक 'सौ अजान और एक सुजान' नामक एक प्रबन्ध 'हिन्दी-प्रदीप' से लेकर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत की गई। इसके बाद बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ने भी इसे अपने यहाँ की एडमिशन परीक्षा में कोर्स-बुक नियत किया फिर यू० पी० की टेक्स्ट-बुक कमेटी ने उसे एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों में आठवें दरजे के लिये सप्लीमेन्टरी रीडर स्वीकार किया। भट्ट जी की चौथी पुस्तक 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित हुई। यह भट्ट जी के 'हिन्दी- प्रदीप' में लिखे गये चुटीले, रसीले २५ लेखों का सुन्दर संग्रह है। इसके भी अब तक कई संस्करण हो चुके हैं और यह भी शुरू से ही सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक रक्खी गई है। यू० पी० गवर्नमेन्ट की टेक्स्ट-बुक-कमेटी ने इसे भी स्वीकार किया है। और हिन्दी-कोविद की परीक्षा में यह पाठ्य-पुस्तक भी नियत है।

अब यह पाँचवी पुस्तक 'भट्ट-निबन्धावली' के नाम से हिन्दी प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित की जाती है। इसमें भट्ट जी के ३२ भावात्मक निबन्ध संग्रह किये गये हैं। ये सभी लेख 'हिन्दी-प्रदीप' से लिये गये हैं। प्रत्येक लेख के नीचे उसकी रचना का समय भी दे दिया गया है।

भट्ट जी की जो अब तक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, हिन्दी संसार में उनका यथोचित सम्मान हुआ है। वे जितनी लोक-प्रिय सिद्ध हुईं और उनके जितने अधिक संस्करण हुए उतने शायद बहुत कम दूसरी पुस्तकों के हुए होंगे। आशा है, हिन्दी-संसार इस नूतन संग्रह का भी उसी प्रकार स्वागत करेगा।

अहियापुर, इलाहाबाद
१६ दिसम्बर १९४१

धनञ्जय भट्ट 'सरल'

दूसरे संस्करण पर वक्तव्य

'भट्ट-निबन्धावली' का यह संग्रह मैंने पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' की प्रेरणा से तैयार किया था और उन्हीं की कृपा से यह सम्मेलन द्वारा प्रकाशित भी हुआ। उन्हीं के प्रयत्न से कुछ ही दिन बाद इसका दूसरा भाग भी सम्मेलन से छपा। इस निबन्धावली का हिन्दी संसार में यथोचित सम्मान हुआ है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उत्तमा, प्रयाग विश्वविद्यालय की एम० ए० आदि कई परीक्षाओं में यह पाठ्य पुस्तक भी स्वीकृत हो चुकी है। इसके उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मान को देखकर इसके कुछ और निबन्धों को काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी मेरे सम्पादकत्व में अपने यहाँ "भट्ट-निबन्ध माला" के नाम से प्रकाशित किया है।

हम पाठकों के सम्मुख इनके "हिन्दी भाषा और साहित्य" सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह भी शीघ्र ही प्रस्तुत करेंगे।

अहियापुर, प्रयाग
४ मई १९४८

धनंजय भट्ट 'सरल'

निबन्ध-सूची

भट्ट-निबन्धावली

१—परंपरा

परंपरा, गतानुगतिक, भेड़ियाधसान, आदि कई एक मुहाविरे इसके सम्बन्ध में प्रयोग किये जाते हैं। अब सोचना चाहिये यह परंपरा है क्या बला ? यह किसी श्रुति का एक टुकड़ा है ? आप्तवाक्य है ? आर्षक्रम है ? धर्मशास्त्र या स्मृतिकारों की स्मृति का सिद्धान्त है ? नहीं यह यावत् श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्र, मन्वत्रिविष्णुहारीत आदि अठारहों स्मृतिकारों के दिमाग की चटनी या एसेन्स है। केवल इतना ही नहीं वरन् 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' का निचोड़ है। यद्यपि 'शुद्धं लोक विरुद्धं' महावाक्य के चरितार्थ होने की प्रणाली है, जिसकी क्रम से वंशपरंपरागत अनुवृत्ति के आगे महामुनि पाणिनि के सूत्रों की अनुवृत्ति झक मारती है, जिसके उद्दण्ड शासन के आगे कड़े-से-कड़े सरकारी कानून जो नित्य बदला करते हैं ठहरने की हिम्मत नहीं कर सकते।

इस परंपरा की अनुवृत्ति को जैसा हमने अपनी लड़काई में देखा, आज ६० वर्ष के उपरान्त भी वैसाही पाते हैं, जब मात्र भी किसी तरह का हेर-फेर उसमें न हुआ। देश की स्थिति में कितनी उलट-पलट हो गई कितने घराने राव से रंक और रंक से राव हो गये किन्तु इस परंपरा के स्थायित्व में जरा फर्क न आया और कब से इसका प्रादुर्भाव है इसका पता लगाना हम क्या हमारे प्रपितामह के प्रपितामह की शक्ति के बाहर है। हिन्दुस्तान ऐसे गिरे देश का तो कहना ही क्या है। कौनसी ऐसी स्वर्ग सदृश भूमि है, कौन ऐसी सभ्यातिसभ्य

जाति है जहाँ इस परपरा पिशाची की प्रतिष्ठा और गौरव नहीं है, बड़े-बड़े नामी देश-हितैषी, संशोधक और रिफार्मर सिर धुना किये इसके पीछे पड़ मर गये, खप गये पर इस परंपरा के हटाने में कुछ असर न पहुँचा सके। लेक्चरारों का लेक्चर परंपरा के अनुकूल हुआ सर्वथा शिरोधार्य और माननीय है। लेक्चर देनेवाले ने जरा भी प्रतिकूल कहा कि नास्तिक, विधर्मी, पापिष्ठ, भ्रम में पड़ा, भटका हुआ आदि बौछारों की समाचारपत्रवाले झड़ी बाँध देते हैं, उस बेचारे का फिर कहीं ठिकाना नहीं लगता। देश में अब तक क्या हुआ, आगे और क्या होगा, पढ़े लिखों के मस्तिष्क में न जानिये क्या-क्या खिचड़ियाँ पक रही हैं। तबदील के एक मात्र भक्त ये लोग जोश में भरे सब तरह की बातें सोचा करते हैं किन्तु परंपरा के सामने एक भी नहीं चलती। इसी से कोई-कोई चतुर सयाने लेक्चरबाज नई सी नई ईजाद या कोई नई तबदील को भी परंपरा से प्राप्त-सिद्ध, कर समाज में सर्वमान्य हो जाते हैं।

हम लोग बाल्य विवाह के हटाने को कितना ही टाँय-टाँय किया करते हैं, अनेक इसके दोष दिखाते हैं, किन्तु परंपरा के क्रम के विरुद्ध है इसलिये केवल अरण्य-रोदन सा होता है। कोई-कोई नवयुवक जिन्हें विधवा से ब्याह करने का खब्त पैदा हो गया अपने मन की कर गुजरते हैं पर पीछे बिरादरी से बाहर और समाज से निष्कासित हो किसी काम के नहीं रह जाते। एक जातिवालों का सहभोजन बहुधा लोग चाहते हैं, यह इतना शास्त्र-विरुद्ध भी नहीं है किन्तु परंपरा से ऐसा नहीं होता आया। किसी की हिम्मत या साहस नहीं होता कि इस बात में अगुआ बने। ब्याह-शादी में गाली गाने की कुप्रथा सब लोग नापसन्द करते हैं सभी ग. महीनों और बरसों तक [illegible] किसी को नहीं रुचता पर परंपरा में होता चला आया, हटाये नहीं हटता, जिसके रोकने को सुशिक्षित नौजवान कितनी ही कूद-फाँद

मचाते हैं, किन्तु घर की पुरानी बुढिया ने जहाँ एक बार डाँट के "दुर मुये" कह दिया तहाँ सब जोश उतर गया—इत्यादि कितनी कुरीतें परंपरा की आड़ में ऐसी बद्धमूल हो गई हैं कि हटाये नहीं हटतीं, तकरीर और मस्तिष्क का दखल वहाँ होने ही नहीं पाता। अस्तु।

अन्त में फिर भी हम इस परंपरा को धन्यवाद देंगे सो इसलिये कि नई तालीम के प्रवाह के झोंक में देश का देश इसी ताक में लगा हुआ है कि किस तरह हम जाति-पाँति के झगड़ों से निकल भागें। अपने मन की जो अभी छिप के करते हैं जाहिरा करने लगें और आजाद हो खुल खेलें। इस दशा में बचा खुचा हमारा हिन्दूपन चाहो इसे बुरा कहो या भला इसी परंपरा के सहारे पर टिक रहा है। जिन वैदिक ऋषियों का यह चलाया है उनमें शुद्धभाव रहा तो यह वृक्ष पुराना पड़ने पर भी एक बार फिर भी हरा-भरा हो लहलहा उठेगा। पर ऐसा कब होगा यह कौन जान सकता है?

"कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी"।

नवम्बर १९०५

२—कालचक्र का चक्कर

सच है "अपना चेता होत नहिं प्रभु चेता तत्काल"—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।

बराबर देख रहे हैं, आज यह गये कल उनकी बारी आई परसों उन्हें चिता पर सुला आये। पर जो बचे हुये हैं उन्होंने यही मन में ठान रक्खा है कि हम अजर, अमर और अविनाशी हैं सदा स्थायी रहेंगे। यह तो कभी उनके कलुषित चंचल चित्त में धँसताही नहीं कि एक दिन आवेगा कि हम भी शव-रूप में ऐसी ही चिता पर सुलाये जायेंगे। न जानिये हजार लाख या करोड़ वर्ष की नेह गाड़े हुये निश्चिन्त बैठे हैं। निस्सन्देह इससे बढ़ा कर अचरज की बात और क्या होगी? हमारे मन में आता है कि ऐसों ही के लिए कई वर्ष से प्लेग मनुष्य के जीवन को पानी का बुल्ला सा करता मानो चेतावनी दे रहा है। पर काहे को कोई चेते और क्यों चेतै? किसी बात की कमी नहीं रुपयों से खचाखच खजाना भरा है २४ घंटे के दिन-रात में ३६ भाँति की उमंग और हौसिले मन में उठते रहते हैं। सच है—

"दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायु:" ॥

चार भाइयों के बीच में एक लड़का है, बाप, मा, चाचा, ताऊ, मामा, नाना, बड़े लोग सब दिन रात मुँह जोहते रहते हैं और अपने प्रिय पुत्र की सोहावनी सूरत पर बार-बार पानी पी रहे हैं अँगुलियों दिन गिनते बीतता है कि कब वह समय आवे कि हम अपने ललन

का ब्याह करें। बहू घर मे आवै चन्द्रसेनी हार मुँह दिखाई में भेंट कर उसका चाँद-सा मुखडा देख अपना जी जुड़ावें। हमारे सब मनोरथ सफल हो, बड़ी-से-बडी महफिल साज सात भाँति की मिठाई परसैं, चार भाई बिरादरी का जूठन पड़े, हमारा घर पवित्र हो। वर्षों के पहिले से नगर की प्रसिद्ध वारवनिताओं को बयाना दे दिया गया, ब्याह की तैयारियाँ हो रही थीं कि अचानक ललन को ज्वर आया, दवा- दारू झार-फूँक टोना-टनमन में सैकड़ों रुपये फूक डाला। जरा भी फुरसत न हुई, गिलटी प्रगट हो आई, दो ही तीन दिन में ललन जी जहाँ के थे वहीं चल बसे।

बड़ी-से-बड़ी डिगरी हासिल किये हुये हैं; छात्र-मण्डली में जिनकी कुशाग्र बुद्धि की शोहरत है, बड़ी-बड़ी उमंगे मन मे भरी हुई हैं कि कपीटीशन मे हम विलाइतवालों को अपने नीचे करैंगे, मातृभूमि के लिये हम ऐसी कोई बात कर गुज़रें जिसमें भारत के सत्पुत्र कहलावें; आहार विहार की गडबड़ी से एक दिन दो-चार दस्त और कै हुई, दोस्तों ने समझा अजीर्ण है, दौड़ धूप करने लगे, इधर इनका हाल बिगड़ता ही गया, १२ घंटे के भीतर ही समाप्त हो गये। यह किसी ने न समझा कि अन्तक देव ने एक बड़ा भारी कालेज खोल रक्खा है, सर्वविद्या पारगत इनको वहाँ का प्रोफेसर किया चाहते हैं। यह न्याय है या अन्याय इसका विचार कभी मन मे न आया; अधम से अधम काम करने में कभी हिचक न हुई; कई लाख और करोड़ की माया जोड़ने मे बराबर महा अर्थपिशाच रहे आये, फिर भी दिन-रात सोचा करते हैं, ५० हजार फलाने असामी के बाकी हैं एक लाख अमुक सेठ के नीचे दबा है और वह टाट पलटने पर है; २५ हजार ब्याज का चिथुरूमल गोधनदास से अब तक न वसूल हुआ। ऐसी ही ऐसी चिन्ता मे व्यग्र एक रात को नींद न आई, अधिक शीत के कारण फालिज आ टूटा, जबान बन्द हो गई। मुँह

टेढ़ा पड़ गया, सुबह होते-होते चल बसे। साथ अपने एक पाई भी न ले गये। एक-एक पैसे के लिये जेर-बार हैं, रोज का भोजन बड़ी कठिनाई से चलता है। दैव संयोग से एक ऐसा भाग्यवान् कुल-उजागर जन्मा कि उसने कुल की प्रतिष्ठा चौगुनी कर दी; मिट्टी छूते सोना होने लगा; बरसाती नदी की बाढ के समान धन-सम्पत्ति सब ओर से आ इकट्ठी होने लगी; दौलत की बाढ के साथ हौसिले और उमग भी बढ़ने लगे; संगीन पक्का मकान छेड़ दिया गया; जड़ाऊ ठोस गहने पिटने लगे; जमीदारी की भी खरीद होने लगी; बात-बात में नफासत और वजेदारी की तराश-खराश पल्ले दर्जे तक पहुँची। अकस्मात् वह पुरुष-रत्न जिसकी बदौलत यह सब कुछ था चल बसा। सूर्यास्त होने पर अन्धकार-सा छा गया, जिनके मिजाज कुतुबमीनार की ऊँचाई तक चढ़ गये थे अब कौड़ी के तीन तीन हो गये। इस तरह इस कालचक्र की अद्भुत महिमा भूरी भरै भरी हरकावे की भाँति कुछ समझ में नहीं आती।

अब दूसरी ओर देखिये कुछ अकिल नहीं काम करती क्यों इस कालचक्र का चक्कर ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा है। युग-व्यवस्था के सम्बन्ध में पुराण-वालों की पुरानी अकिल चाहे जो मान बैठी हो हमें तो कुछ ऐसा ही जँचता है कि यह युग-व्यवस्था भी इसी कालचक्र की विकराल गति है। जहाँ जब और इस चक्र का चक्कर अपने अनुकूल है, तहाँ और तब सतयुग है, उसका प्रतिकूल होना ही कलियुग है। भारत पर वह चक्कर नितान्त प्रतिकूल है, इसलिये यहाँ घोर कलियुग बर्त रहा है ; विलायत पर अनुकूल है वहाँ शुद्ध सत्ययुग राज करता है , वहाँ वालों में जो बुराइयाँ हैं वे भी भलाई में शामिल कर ली गई हैं । उसी कालचक्र की प्रतिकूलता से हमारे में बची-खुची जो दो-एक भलाई थी वह भी बुराई और पाप समझ ली गई। कालचक्र की अनुकूलता तथा प्रति-कूलता का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण और क्या होगा कि आदि

से जो यहाँ सौदागरी करने के बहाने आये वे अब समस्त भारत के काश्मीर से कन्याकुमारी तक अखण्ड एकचक्रा पृथ्वी के राज्य के अधिकारी हो गये। वही यहाँ वाले जिनको अनादिकाल से यहाँ की भूमि से मातृवात्सल्य रहा और जिनके नस-नस में यहाँ के जल-वायु का असर चुभा हुआ है वे कालचक्र की प्रतिकूलता से निकाल बाहर कर दिये गये, बैठे-बैठे ललचाते और मुँह ताकते रह जाते हैं; जो कुछ सार पदार्थ और रस है उसका आनन्द एक तीसरा भोग रहा है। ये खूदड और उच्छिष्ट ही से अपना पेट पाल लेने को परम सौभाग्य मान रहे थे सो उसमे भी उस चक्र की वक्र कुटिल गति ने ऐसा खलल डाल रक्खा है कि चिरकाल से दुर्भिक्ष और अवर्षण इन्हें निश्चिन्त नहीं रहने देता। इस समय कई और उपद्रवों से कुछ स्वास्थ्य था तो प्लेग अपनी बहादुरी प्रगट कर रहा है। इससे किसी तरह गला छूटेगा तो कोई दूसरी बला आ घेरैगी।

बड़े-बड़े दार्शनिक वैज्ञानिक योगी तथा भविष्य के जाननेवाले किसी ने इसका भेद न पाया कि क्यों ऐसा होता है। कोई कहते हैं, यह ईश्वर की इच्छा है, दूसरे मानते हैं, नहीं संस्कार का पूर्व-संचित का यह परिणाम है "जो जस करै सो तस फल चाखा", और लोग सिद्ध करते हैं, यह सितारों की गरदिश है। संशोधक और रिफार्मर जुदा ही तान भर रहे हैं कि हम अपने यहाँ प्रचलित कुरीतों को उठाय समाज का संशोधन क्यों न कर डाले जिसमे हमारे मे कौमियत और एकता आवे, मुलकी जोश पैदा हो, कालचक्र की जो वक्र गति है ऋजु गति हो जाय। कोई कहते हैं, यह बाल-विधवाओं की आह है; दूसरे कहते हैं यह बाल्य विवाह का सब दोष है इत्यादि-इत्यादि। हमारे धूर्त शिरोमणि इसी पर जोर दे रहे हैं कि ब्राह्मणों का मान और हिन्दू-धर्म पर विश्वास उठता जाता है उसीका यह फल है; कोई-कोई दबी जबान हिम्मत बाँध कही तो डालते हैं, यह सब राजा के

पाप या पुण्य का परिणाम है। जो हो वास्तव मे यह क्या गोरखधन्धा है कुछ नहीं खुलता।

सच पूछो तो आदमी की शैतानी अकिल एक हारी है तो इसी बात में कि वह कुछ हल नहीं कर सकती कि आज क्या है, कल क्या होगा और इसी को इस संसार इंजिन का बड़ा इंजीनियर अपने हाथ में रक्खे हुये है। यह इस कालचक्र के चक्कर ही का प्रभाव है कि रोम, इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या, पाटलिपुत्र, कन्नौज आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ जो किसी समय आदमियों का जंगल थीं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई योजन और कोसों के हिसाब से थी और जहाँ की मनुष्य-संख्या ४० लाख २० लाख १० लाख की गिनती की थी वह इस समय बहुधा तो उजाड़ घुग्घुओं के घोसलों के लिये उपयुक्त हैं, कोई-कोई नाम मात्र को अब तक विद्यमान हैं। लन्दन, पेरिस, कलकत्ता, बंबई जो एक समय बहुधा तो उजाड़ जंगल तथा जलमग्न अनूप थे वहाँ अब आकाश से बात करते हुये गगनस्पृक् प्रासाद स्वर्णमण्डित मन्दिर खड़े हुए हैं; जहाँ चंचला लक्ष्मी अपनी चंचलता से मुँह मोड़ चिरस्थायिनी हो समुद्र की तरंग सी हिलकोरैं मार रही है, इत्यादि। इस कालचक्र की महिमा का पार कौन पा सकता है, तब हमारी क्षुद्र लेखनी किस बूते पर इस चक्कर में पड़ने का अधिक साहस करे ? पढ़नेवालों के चित्त विनोदार्थ इतना ही सही।

जनवरी १६०३

३—संसार कभी एक सा न रहा

सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा दूसरे-दूसरे ग्रह और उनके उपग्रह आदि यावत् भगण सब अपनी-अपनी कक्षा में चलते हुये कभी एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रहते। तब इस दृश्य-जगत् को संसार "चलने वाला" कहना उचित ही है। स्थिर पदार्थ चाहे चिरकाल तक एक रूप में रहें भी पर जो चलने वाले हैं वे एक ही प्रकार के और एक ही रूप में सदा क्योंकर रह सकते हैं। जो कल था सो आज नहीं है जो आज है सो कल न रहेगा छिन-छिन में नये-नये गुल खिलते हैं। लड़के से जवान हो गये, जवान से बूढ़े हो जाते हैं। वह प्यारी प्यारी मुग्धमुखच्छवि जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूलि-धूसरित स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग-प्रत्यंग के दरस-परस को भाग्यहीन जन तरसते हैं—

"चिरात्सुतस्पर्श रसज्ञतां ययौ"

उसका सब रंग-ढङ्ग जवानी के आते ही अथवा यों कहिये पौगंड बीत जाने पर किशोर-अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और हो गया। बाल्यअवस्था की मुग्धमाधुरी अकृत्रिम सरलता और सिधाई में सयानापन और कुटिलाई जगह करने लगी। स्वाभाविक सौन्दर्य में बनावटी सलोनापन आ समाया, नई-नई सजावट की ओर जी झुक पड़ा। एक पैसे की शीरीनी और छदाम के मिट्टी के खिलौने में जहाँ ब्रह्मानन्द का सुख मिलता था वहाँ अब दो-चार आनों की गिनती ही क्या है? रुपयों की बात-चीत आ लगी। लड़काई का उदार समभाव और सन्तोष कहीं एक बात में भी न रह सका। तृष्णा, लालच, हिर्स, दोस्ती या दुश्मनी का बाजार गरम हुआ, आशिकी और

माशूकी का चसका डूबा, विषम-भाव और मन की कुटिलाई ज्ञान-शक्ति बढ़ने के साथ ही साथ नित-नित अधिक होती गई। हौले-हौले पूरी तरुनाई तक पहुँच नीचे को खिसकने लगे, गदहपचीसी को नाँघ चेहलसाली को भी टाँक अधेड़ की गिनती में आगये। बस अब खिसके सो खिसके, बाल चाँदी होने लगे, सौ-सौ तरह पर खिज़ाब कर पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति पहले का-सा कुदरती रंग फिर लाया चाहते हैं किचकिचाते हैं बार-बार सोचते हैं कि नई जवानी और चढ़ती उमर का जोश तरोताजा हो जाता। बालों ही के सुफ़ैद हो जाने के ग़म में डूबे बैठे थे कि दाँत जो हीरे की दमक को भी दबाते हुये मोतियों की लड़ियों की तरह सोह रहे थे कग़ारे पर के रूख की भाँति एक-एक कर गिरने लगे। मुख के भीतर थोड़ी-थोड़ी दूर पर मानो विन्ध्यपर्वत का एक-एक खड्ढा-सा खड़ा कर दिया गया। उधर नेत्र ने भी जवाब दिया, चश्मे की हाजत हुई, दिमाग़ कमजोर पड़ गया। हाफ़िज़ा दुरुस्त न रहा। जो बात पहले एक बार के कहने या सुनने से अक़िल की सराय में मानो सदा के लिये टिकसी गई थी उसे रूठे पाहुने की भाँति बार-बार बुलाते हैं, घोखते रहते हैं, पर सिवाय उचट जाने के बुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नहीं।

"प्राप्ते सन्निहिते ते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे"

इतने में कान भी मान लाये, मुँह पर सिकुड़न आने लगी, हाड़ों को छोड़ छोड़ कर मांस और चिमड़ी ठौर-ठौर इकट्ठी हो शरीर समथर मैदान में जगह-जगह टीले से खड़े हो गये।

"श्रुतिर्नष्टा स्मृतिर्दूरे पदात्प्रचलिता द्विजाः। वार्द्धक्यं किमनुआसम्?"

अस्तु यों ही होते-होते साठ सत्तर असमा पहुँचे, दिन करीब आगये, मुँह बाय रह गये।

"राम नाम सत्त है सो यार मित्त है।" "भूतानि कालः पचतीति

वार्ता ।" 'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमन्दिरं। शेषा जीवितु मिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्'

संसार कभी एक-सा न रहा हमारा यह सिद्धान्त अब आया मन में। खैर अब आगे बढ़िये। पञ्चभूतात्मक पञ्चप्राणवाले जीव जो इस चल और असार ससार मे एक-से न रहे तो कौन अचरज है जब अटल और सदा के लिये स्थिर बड़े-बड़े पहाड सैकड़ों कोस के मैदान और जगल भी काल पाय और के और हो जाते हैं।

"पुरा यत्रस्रोतः पुलिनमधुनातत्र सरिताम्। विपर्यासजातो घनविरल-भावः क्षितिरुहाम्।"

उत्तर राम-चरित्र मे भवभूति कवि लिखते हैं कि दण्डक वन में जो पहिले सोते रहे, वे नदियों के प्रवाह के कारण अब पुलिन बन गये, घने और विरले जगलों मे उलट-पुलट हो गई, जहाँ घना जगल था वहाँ अब कहीं-कहीं दो-एक पेड़ रह गये और जो बिल्कुल पटपर मैदान था वह घने जंगल में बदल गया, इत्यादि।

तो निश्चय हुआ कि परिवर्तन जिसके हमारे पुराने बुड्ढे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत् का एक मुख्य धर्म या गुण है। वही नये लोग इस परिवर्तन पर अनमन न होकर चिढ़ते नहीं वरन् इसे तरक्की की एक सीढ़ी मानते हैं। हमारे अभाग से भारत मे परिवर्तन को यहाँ तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन-दिन अत्यन्त गिरी दशा मे आकर भी परिवर्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते, यह हमारी परिवर्तन-विमुखता ही का कारण है कि हजार वर्ष से विदेशियों का पदाघात सहकर भी कभी एक क्षण भर के लिये जीवनी-नाड़ी मे रक्त-सञ्चालन न हुआ। जैसे इल्म की तरक्की इस उन्नीसवी शताब्दी में हमारे देश मे हुई है वैसी किसी दूसरे देश में होती तो वह देश भूमण्डल का शिरोमणि हो जाता। परिवर्तन-विमुखता के कारण इस समय की विद्यावृद्धि दाल में नमक की भाँति

मालूम होती है और जो धीमा क्रम यहाँ के लोगों में देखा जाता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस जीर्ण भारत के भाग्योदय के लिये अभी कई शताब्दी चाहिये। अस्तु चाहे जो हो, जो हम अब हैं दस वर्ष पहले ऐसे न थे, थोड़े दिन के उपरान्त कुछ और हो जाँयगे क्योंकि यह संसार कभी एक-सा न रहा।

फरवरी १८९२

४—ईश्वर भी क्या ही ठठोल है !

लोग कहेंगे इसे कुछ ख़फ़गान हो गया है इस उन्नीसवीं सदी के फैशन के अनुसार नास्तिक बनने का हौसिला चरोया है जो उस अगम अपार अणोरणीयान् महतो महीयान् की शान मे भी ऐसी बेअदबी और ढिठाई के साथ कुफ्र का क़लमा कह रहा है। जो हो पर मुझे तो बहुत से अस्तव्यस्त कारखाने देख कुछ ऐसा ही जी में भासती है कि वह या तो कुम्भकरण का जेठा भाई बनने की हवस बुझाय रहा है या यदि सब अस्तव्यस्त कारखाने ईश्वरता के निदर्शन हैं तो वह घनघोर नींद मे सो रहा है। या जागता है तो कोई बड़ा ही ठठोल दिल्लगीवाज मसखरा है नहीं तो बेफिक्र और असावधान होने मे तो कोई शक नहीं है।

जिस कसौटी, परिभाषा और सूत्र के अनुसार हमलोग आपस मे एक दूसरे को जाँचते और परखते हैं वही परिभाषा यदि वहाँ भी लगाय उसे परखे तो उनकी ईश्वरता की सब कलई खुल जाय और दुनिया के हालात देख अवश्य चित्त में यही समाय कि वह कोई बड़ा ही अनोखा खेलवाड़ी है। सब भाँति स्वतंत्र आप एक बड़ा नट नागर बना बैठा है और इस संसार को एक नाट्यशाला की रङ्गभूमि बनाय जैसा चाहता है वैसा खेल खेला करता है। भला यह मसखरापन नहीं तो और क्या है कि मनुष्य एक तो निपट परतन्त्र उसमें भी उसका मन ऐसा नाजुक और कमजोर कर दिया गया पर मुकाविले के लिये लड़ाई इसकी उन दुर्घट अजेय विषयवासना के साथ ठान दी गई जो शिकारी जानवरों की तरह सभी इसे अपने कब्जे मे लाय नष्ट-भ्रष्ट किया चाहते हैं और इन लुटेरों से बचने के लिये जो सिपाही विवेक इसके साथ कर दिया गया है वह न जानिये किस अन्धे ताखाने में पड़-पड़ा सो रहा है कि प्रतिक्षण मन बेचारे पर क्या क्या आफतें

आती रहती हैं, विवेक अलमस्त बेपरवाह को खबर तक नहीं होती। इस पर तुर्रा यह कि सब तरह कैद में पड़े हमारे मन को कोई इख-तियार हासिल नहीं कि विवेक से कुछ कह सके जिसका चेतना और जग उठना कभी को आकस्मिक घटना कभी को निरन्तर के अभ्यास, सत्संग या सत् शिक्षा पर निर्भर है। कभी को ऐसा भी होते देखा गया है कि मन सब ओर से लाचार और शोक-मोह के शिकंजे में अत्यंत ही कसा हुआ होकर विवेक की शरण ढूँढने लगता है।

तात्पर्य यह कि ये जितनी बातें हैं वे सब मनुष्य की शक्ति के बाहर हैं जिस पर उस बड़े नटनागर की कृपा हुई या जिसे उसने चाहा कि अपने खेल-खिलौने से बरी करै उसके चित्त में विवेकभानु का प्रकाश कर दिया गया नहीं तो निर्बिवेकियों को पद-पद में गिरते पड़ते-लड़खड़ाते देख आप बैठे बैठे खिलखिलाया करता है और अपनी ठठोलबाजी को खूब तरक्की देता जाता है। और आगे बढ़िये कितने गरीब भुक्खड़ कुटुम्बी दाने-दाने को तरसते हुये सबेरे से साँझ तक गाढ़ी मेहनत के उपरान्त इतना भी नहीं पाते कि कुटुम्ब को मन मानता पाल सकें। आज घी है तो तेल चुक गया, लकड़ी है तो नोन का टोटा है। इधर एक लड़का पड़ा-पड़ा भूख-भूख चिल्ला रहा है उधर दूसरा दूध बताशे के लिये मचलाया हुआ है। घट-घट की सब बात जाननेवाला विश्वव्यापी विश्वम्भर कहलाकर भी जरा नहीं शरमाता वरन् पड़ा-पड़ा ताकता हुआ मनीमन प्रसन्न फुदेरा होता जाता है। उधर एक बड़ा सूम के पास एकबारगी मनमाना असंख्य धन जुरै दिया गया जिसका बिलसनेवाला भी ठूँठे पेड़ के माफिक "स्तम्भेन नीवार इवावशिष्टः"। सिवा उस सूम के दूसरा कोई नहीं है कि इसके मरने बाद उस धन को काम में लावेगा, जब तक जिया अत्यन्त कदर्यता के साथ जिन्दगी काटी किसी को कुछ देना तो सीखा ही नहीं, अपने खाने पहनने में भी किफायत करता रहा। यहाँ

तक कि तन्द्रा लगने का समय आ गया, प्राण शरीर से प्रयाण किया चाहते हैं पर रुपया जमा करने का ख्याल दूर न हुआ। उस समय भी राम-राम कहने के पलटे हाय रुपया हाय रुपया कह कर तन त्यागा। यह बैठा-बैठा उस कृष्ण की सब लीला देख-देख हँसा किया जिसके लिये गरीब कुटुम्बी जन्म भर तरसा किया। वह धन यहाँ दान-भोग के बिना व्यर्थ और निष्फल पड़ा है। क्या इसी को साव-धानी और न्याय कहेंगे ?

मसल है, "जबरा मारै रोवैं न दे"। हाड़ वही मास वही चाम वही लहू वही। "तुम कत बाह्मन हम कत सूद हमरे लहू तो तुम्हरे दूध"। तब यह जित और जेता का भेद कैसा ? तुम्हें जेता किया हमें जित क्यों कर दिया ? हमने ऐसा क्या अपराध किया कि सैकड़ों वर्ष से भुगतमान भुगतते चले आते हैं और अब तो वह दशा आ लगी है कि जीवन भारू हो रहा है तब भी उस ठठोल के मन में जरा दया और इनसाफ जगह नहीं पाता। हमारे किसान मर-मर, पच-पच करोड़ों मन गेहूँ पैदा करैं। वह यदि सब का सब हमारे काम में आवै तो चुकाये न चुकै पर गेहूँ खेत में रहता है तभी रेलीब्रदर के कारिन्दे गाँव-गाँव घूम खेत का खेत चुकता कर लेते हैं हम मुँह ताकते रह जाते हैं फसल पर भी बारह सेर तेरह सेर से आगे नहीं पा सकते। इसी को दया और इन्साफ कहेंगे ? काबुल की पहाड़ी धरती में मेवा पैदा कर देना और ब्रज की उर्वरा भूमि में कटैली करील का जन्म। पढ़े-लिखे विद्वानों को निर्धनी मूर्ख, निर्विवेकी को धनीपात्र, गुलाब के फूल में काँटा—सुपात्र सुयोग्य को एक कुकाला भूतिन—सर्वाङ्ग सुन्दर स्वच्छ हिन्दी को जलावतन—प्रेतिन की शकल जाल और फरेब से भरी उर्दू को पश्चिमोत्तर की अदालत में स्थान दान— इत्यादि सब उसका ठठोलपन नहीं तो और क्या है ?

जनवरी १८९३

५—दिलबहलाव के जुदे-जुदे तरीके

जब आदमी को कुछ काम नहीं रहता तो दिल बहलाने को कोई-न कोई ऐसा एक काम निकाल लेता है, जिसमें समय उसको बोझ न मालूम हो और यह कहने को न रहे कि वक्त काटे नहीं कटता।

इस दिलबहलाव के जुदे-जुदे तरीके हैं जिनमें थोड़े से यहाँ पर दिखाये जाते हैं—कितने सब काम-काज से छुटकारा पाय दिल बहलाने को बाहर निकलते हैं। सदर बाजार के एक छोर से दूसरे तक दो-चार चक्कर किये कभी इस कोठे पर ताका कभी उस अटारी पर इशारेबाजी हुई दिल बहल गया, घर लौट आये। कितनों का दिल बहलाव हुक्केबाजी है, सब काम से फुरसत पाय किसी बैठक में आ बैठे हाहा-ठीठी करते जाते हैं, और चिलिम पर चिलिम उड़ाते जाते हैं—हाहा-ठीठी धौल-धक्कड़ का मौका न मिला तो बे-जड़-बे-बुनियाद जी उबियाऊ कोई दास्तान छेड़ बैठे घण्टों तक उसी में समय बिताय घर की राह ली दिल बहल गया। कितने चले जाते हैं रास्ते में कोई दोस्त मिल गये दो-दो कच्ची-पक्की औंड़ी-बौंड़ी इन्होंने उसे कह सुनाया उसने इन्हें कहा अपनी-अपनी राह ली सब थकावट दूर हो गई मन बहल गया। कर्कशा अपढ़ स्त्रियों का दिल-बहलाव लड़ाई है घर गृहस्थी के सब काम पिसौनी-कुटौनी से छुट्टी पाय जब तक दाँत न किर लें और आपस में झोंटी-झोंटा न कर लें तब तक कभी न अघायँ; जी ऊबता रहे चित्त में उदासी छाये रहे मानो उस दिन उन्हें उपवास हुआ—चुगल चवाई शेखी धूर्तों का दिल बहलाव निन्दा और चवाव है, दो-चार पुराने समय के खबीस इकट्ठे हो तमाखू पिच्च-पिच्च थूकते जाते हैं और सौ वर्ष का पुराना कोई जिकिर छेड़ बैठे

बहुधा जान विरादरी के सम्बन्ध की कोई बात अवश्य होगी नाकँ चढ़ाय-चढाय मुँह बगार-बगार किसी भले मानुष के गुण मे दोष उद्घाटन करते दो चार कच्ची पक्की कह सुन लिया मन बहल गया। कोई-कोई ऐसे मनहूस भी हैं कि फुरसत के वक्त किसी अँधेरी कोठरी मे हाथ पर हाथ रक्खे पहरों तक चुपचाप बैठे रहने से दिल बहलाव हो जाता है। बाज-बाज नौसिखिये नई रोशनी वाले जिनका किया धरा आज तक कुछ नहीं हुआ मुल्क की तरक्की के खब्त में आय आज इस सभा मे जाय हडाकू मचाया कल उस क्लब मे जा टाँय-टाँय कर आये दिल बहलाव हो गया। इन्हीं में कोई-कोई घाऊघप्प गुरूघंटाल किसी क्लब या समाज के सेक्रेटरी या खजानची बन बैठे और सैकड़ों रुपया वसूल कर डकारने लगे। भांडों की नकल, सवारी की सवारी, जनाना साथ, आमदनी की आमदनी, दिल बहलाव मुफ्त में। सच पूछो तो इनका दिल बहलाव सब से अच्छा, हमे ऐसा दिल बहलाव मिलता तो सिवाय दिल बहलाने के कोई काम करने के डाँड़े न जाते। धन्य हमारा समाज धन्य हमारे लोगों की तबियत की झुकावट जिनके बीच ऐसे-ऐसे उमदा से उमदा दिल बहलाव मौजूद हैं। इसी दिल बहलाव का एक क्रम नीचे के श्लोक मे भी दिया गया है—

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥"

सच है विद्यारसिक पढ़े लिखे विद्वानों का क्रम अपढ़ साधारण लोगों से जैसा और सब बातों मे निराला है वैसा ही दिलबहलाव भी अनोखे ढंग का होना ही चाहिये। सामान्य मनुष्यों का दिल बहलाव विषयवासना का एक अंग रहता है, वहां विद्वानों का दिल बहलाव विद्या सम्बन्धी बुद्धि का बढ़ानेवाला और शुद्ध सात्विक क्रम का होता है। इसी से ऊपर कहे श्लोक मे लिखा गया है कि बुद्धिमानों का काल काव्यशास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने के आनन्द मे बीतता है, मूर्खों का

समय दुर्व्यसन और सोने में नष्ट होता है। अति दुरूह कठिन विषय जिनमें मस्तिष्क को विशेष परिश्रम पड़ता है चिरकाल तक उसमें अभ्यास के उपरान्त बहुधा जब तबियत उस ओर से उखड़ जाती है तब वैसे विषय जिनमे बुद्धि को अधिक परिश्रम नहीं है और सुकुमार कोमल बुद्धि वालों के पढ़ने योग्य है जैसा काव्य नाटक उपन्यास नावेल्स किस्से कहानी इतिहास भूगोल इत्यादि के पढ़ने से देर तक दिमाग को काम में लाने से जो उस पर बोझ आ जाता है वह हल्का होकर दोचन्द उस दुरूह विषय की ओर धँसता है। नैयायिक, वैयाकरण और गणितज्ञ "मेथिमेटिशियन" का दिल बहलाव गादाधरी जागदीशी और दीक्षित की फक्किकाओं के हल करने मे जैसा होता है वैसा किसी दूसरी बात से नहीं होता। कहावत चल पड़ी है— वैयाकरण अर्द्धमात्रा के लाघव में पुत्र-जन्म के आनन्द का उत्सव मानते हैं।

"अर्द्धमात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते"

इसके यही प्रयोजन है कि जिस विषय का मनन करो वह मन मे बैठ जाय तो मन प्रसन्न हो जाता है और इतनी खुशी होती है मानो लड़का पैदा हुआ। इसी तरह "युक्लिड" बीजगणित या कोई दूसरे हिसाब के सवाल हल हो जाने पर गणित करने वाले के चित्त में जो सुख होता है उसके आगे विषयवासना के निकृष्ट कोटि वाले आमोद-प्रमोद किस हकीकत में हैं। इसी तरह सभ्य समाज का भी दिलबहलाव इधर-उधर के काम घूमने के बदले अपने समान उदार प्रकृति वालों के साथ संलाप है जिनकी आपस की बात-चीत उत्तम उपदेश से पूर्ण रहती है इसी से किसी ने कहा है—

सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति नो।
या हि स्वैर-कथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः॥

सत्पुरुष यद्यपि कुछ उपदेश न करें तो भी उनके साथ

जाना उत्तम है जो आपस की उनकी बातचीत है वही उपदेश होती है। कृपणता की मूर्ति हमारे सेठ जी का दिलबहलाव रुपये की गजिया है, हुण्डी-पुर्जे के भुगतान से छुट्टी पाय जब कुछ काम न रहा गजिया खोल बैठे, दो-चार हजार रुपया गिन डाला, दिल बहल गया। शराबी तथा जुवारी का दिल बहलाव शगल है। पक्के जुवारी को जिस दिन हजार पांच सौ जीत हार न हो ले जी ऊबता रहता है जिनके जीवन का सर्वस्व केवल द्यूत है।

द्रव्यं लब्ध द्यूतेनैव दारा मित्र द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव॥

जुवारी जुवा को बिना सिंहासन का राज्य मानता है—

"न गणयति पराभवं कुतश्चित् हरति ददाति च नित्यमर्थजातम्।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन॥"

ऐसा ही शराबी जब तक पीते-पीते बेहोश हो चहबच्चे में न गिरे उसका दिल न बहलेगा। हमारा दिल बहलाव उमदे से उमदा टटका रसीला मजमून है, जिस दिन कोई नई बात सूझ गई दस मिनिट में पर्चे का पर्चा लिख डाला उस दिन चित्त बड़ा प्रसन्न रहा, नहीं बैठे-बैठे सिर पर हाथ रक्खे पहरों सोचते रहते हैं अन्त को उद्विग्न खिन्न-चित्त निरस्त हो बैठते हैं। ऐसा ही अपने रसिक पाठकों को दो एक दिन के लिये दिल बहलाव हम देते हैं जिस दिन हम उनसे जा मिलते हैं वे अपना सुदिन मानते होंगे इत्यादि इत्यादि, दिलबहलाव के जुदे-जुदे तरीके यहाँ दिखाये गये।

जनवरी १८८६

६—उपदेशों की अलग-अलग बानगी

जहाँ गृहस्थ के लिये सवेरे से उठ साँझ लौ अनेक-अनेक चिन्ता और झौंझट दावनगीर रहती है और नोन तेल लकड़ी की फिकिर एक दम भी फुरसत नहीं लेने देती वहाँ लोगों का तरह तरह का उपदेश भी जी को डाँवाडोल किये रहता है, किसका किसका उपदेश सुनें, किसे सच्चा मानें, किसे झूठ। गुरू लोग उपदेश देते हैं बच्चा दुनिया के बखेड़ों में मत पड़ो विद्या बुद्धि दोनों सन्मार्ग की लुटेरी हैं, तुम अपने कोने में बैठ गोविन्द भजन किया करो, जो कुछ कमा लाओ स्त्री पुत्र चाहे मुँह ताकते रह जाँय मोटा झोटा खा-पी जो कुछ बचै वह ठाकुर जी को अर्पण कर दिया करो, सन्तों के सत्कार से जो बचै उसे गुरु महाराज की भेंट धर दिया करो। थोड़े से अंगरेजी पढ़े विधर्मी लोग उठ खड़े हुये हैं जिन्होंने अपना नाम संशोधक और रिफार्मर रख लिया है वे भाँति-भाँति की कमेटियाँ और सभायें कर तुम्हें उसमें बुलावेंगे और सब तरह पर तुम्हें बढ़ावा देंगे पर तुम चौकस रहना उनकी ओर न झुक पड़ना, नहीं तो बच्चा नरक की आग में पड़े पड़े सड़ोगे कभी उद्धार न पावोगे।

पादरी साहब बाजार में खड़े उपदेश देते हैं प्रभु ईसा की सरन गहो वह तुम सभों के पाप की गठरी का हम्माल बन सूली पर चढ़ गया, न कुछ दान का काम, न तपस्या की जरूरत, न बड़े-बड़े संयम नियम से शरीर सुखाने की आवश्यकता है, उमदा से उमदा शराब पिया करो, देह को आराम और सुख पहुँचाने में कहीं से कसर न होने पावे सिर्फ ईसा पर ईमान लाओ मुक्ति तुम्हारी दासी और किंकरी होगी बस और कहिये क्या—"भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थ एव"।

अस्सी बरस की खोड़ही जप्नल बुढ़ियायें उपदेश देती हैं बेटा अब तुम सयाने भये घर दुआर की फिकिर रक्खा करो दुलहिनिया की नथिया टूट गै है बतसिया का ब्याह नियरान है सदा फक्कड़ बने रहने से काम न सरिहै। कुपूत आवै तपत सपूत आवै नवत, भगवान् देखाई चार दिना में तुन नाती पोता के होइ हौ झन-झन पट-पट करते घर में पाँव न रक्खा करो, पानी भरी खाल कौन जानै आज का है कल का हो। ऐसी चाल चलो जेह में जग मे हँसी न हो।

घर वाली समझाती है हम सौ-सौ बार कहा सास ननद की बात हमसे सहा नहीं जाता, हमैं अलग लैके रहो, महीने में जितना कमाते हो भाई-बन्धन के खिलाने पिलाने मे सब का सब उठ जाता है, उसी को जमा करते रहो तो गहनो से नख से सिख तक हम लस जाँय। अन्त मे ये भाई-बन्ध तुम्हारे कोई काम न आवैगे पास पूँजी बनी रहैगी तो सब भाई भतीजे बनैंगे नहीं तो कौडी के तीन-तीन होंगे तुम जानते नहीं। न बाप न भैया सब से बडा रुपैया, सो रुपये को तुम ठिकरी कर रहे हो अभी तुम्हे समझ नहीं पड़ता पीछे पछताओगे।

यार दोस्त उपदेश देते हैं वाह! हो दुनिया के सुख और आराम से मुँह मोड़ चरित्र शोधन के लिये जी दिये डालते हो जिसमें अपना बनै सो करो, जवानी का उमर खाने खेलने की होती है तुम अभी ही से बुड्ढों की तरह बुजुरगी और बुर्दबारी का जामा ओढ़ बैठे सो क्यों ? घर में पडे-पडे सड़ा करते हो शाम को जरा बाजार की हवा खा आया करो, थोड़ी देर के लिये यार दोस्तों से भी मिल लिया करो, लो एक ग्लास छको तो सही यही सब तो जिन्दगी के मजे—

"आकवत की खुदा जाने अब तो आराम से गुजरती है"

"मा से मधुसूदन कहो दा दामोदर नाम।
रा को राम प्रणाम कर भरके मदिरा जाम"

"शरा के बाब में हम को तो कुछ कलाम नहीं,
शराब यार पिलावै तो कुछ हराम नहीं।"

इत्यादि, सैकड़ों महावाक्य प्रमाण के लिये कहो लर बाँध दें, जिस लर को तुम्हारे परदादा भी आकर तोडा चाहें तो न टूटैगी तब तुम्हें आगा पीछा करने की जरूरत अब क्या है जब तक बेतकल्लुफी न हुई तब तक दोस्ती क्या!

बेगम साहबा कहती हैं खुदा कसम यही जी चाहता है तुम्हें आँख की ओट न करें जब तक नहीं देखती जी उकताया करता है हम से क्या कुसूर बन पड़ा जो आप कई दिनों से नहीं आये? यह निठुराई कहाँ सीखा? हे मेरे कन्हैया मैं तो अपना धन प्रान जीवन सब तुम्हें सौंप चुकी, तुम्हारे अधीन चतुर चूडामणि तुम खुद सयाने हो मैं तुम्हें क्या सिखाऊँ उस दिन आपने पाँच सौ रुपये दिये थे पर अम्मा कहती हैं उतने में छागल तैयार न होगी (हँसकर) अम्मा नाहक उकताती हैं आपकी सखावत का ख्याल किया जाय तो पाँच सौ क्या पाँच हजार कुछ बड़ी बात नहीं है बहती गंगा में अब न हाथ धोओगे तो दूसरा वक्त कौन सा होगा।

सनातनधर्म वाले उपदेश देते हैं बाप दादा की लीक पीटते जाओ यही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निचोड़ है हिन्दूधर्म का सरांश है। हमारा उपदेश है बाप दादा की लीक पीटने के बराबर कोई दूसरा पाप ही नहीं है, बाप दादाओं की कम अकली पर तुम्हें घिन न हुई तो तुम्हारे पढ़ने-लिखने पर लानत है। उनकी लीक का मेटना ही महापुरुष है, सपूती है, मर्दानगी और जवांमर्दी है, हिन्दुस्तान को सभ्यता के शिखर पर रख देने का सुगम उपाय है। यह सनातनधर्म नहीं है वरन् प्रचलित बुराइयों को भला काम समझ उनको जारी रखने के लिये टट्टी की आड़ में शिकार है। ब्राह्मणों के लिये औरों वर्णों को अपने चंगुल में रखने का सहज लटका है। हिन्दूजाति

के अधिक पतित होते जाने का खुला द्वार है। अफसोस बदमाशों ने जिसमें समझा कि यह कौम को कमजोर बिगड़ने का बड़ा अच्छा जरिया है उन्हीं-उन्हीं बातों को चुन-चुन कर सनातनधर्म में रख दिया अब इन दिनों के लोग "रिफार्म" सुधार और संशोधन की दृष्टि से उन्हे श्रुति स्मृति से मिलाते हैं तो कहीं पता नहीं लगता कि किस मूल पर यह बुराई और कुरीति चल पड़ी बल्कि श्रुति और शास्त्रों मे जिसे मना किया, पाप और बुरा कहा, उसी को सनातन का सियापा गाने वाले बदमाशों ने विहित पुण्य और भलाई का काम कहा। इस घिनौने सनातन से दूर हटना ही अब कल्याण का मार्ग है, हमारे इस अन्तिम उपदेश पर जो दृढ़ होंगे वे दास्यभाव की बेड़ी से छूट बहुत जल्द प्रभुता पाने के अधिकारी हो जांयगे, हाथ कंगने को आरसी क्या, जिसका मन हो आजमा के देख ले, इत्यादि। हमने बहुत तरह के उपदेश आप को कह सुनाया अब उन पर चलना और उन्हें मानना आप के अधीन है।

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयम्।

न जानिये किस गोठिल अकिल वाले अहमक ने इस कहावत को प्रचलित कर रक्खा है। हम कहते हैं यदि शुद्ध हैं और लोक विरुद्ध है तो वह अवश्य करणीय है जब हमें निश्चय हो गया यह शुद्ध है शास्त्र और अकिल दोनों इसे कबूल करती हैं तब उसके न करने में आगा पीछा की जरूरत क्या रही? जैसा १५ वर्ष की औरत २५ वर्ष के साथ ब्याही जाया करे तो कौन सी हानि है! शास्त्र भी इसमें सहमत हैं और अकिल कबूल करती है कि १५ वर्ष में स्त्री अपनी पूरी उमर को पहुंच जायगी पुरुष भी तब तक गदहपचीसी डांक पढ़-लिख तैयार हो जायगा। बाप-माँ को बोझ न होकर अपना निर्वाह अपने आप करने लायक हो गया तब सुख से जीवन पार करेगा और पुष्ट रज-वीर्य के सन्तान पैदा हो देश के सौभाग्य के हेतु होंगे। पर यह लोक विरुद्ध होता

है, संसार में क्या मुँह दिखावे कि इनके इतने बड़े-बड़े लड़की लड़के हो गये कौन-सी कज है जो ब्याह नहीं होता। मालूम होता है, जाति मे हेठे हैं। इस लोक-निन्दा की डर से जन्म पर्यन्त सब तरह का क्लेश उठाते हैं अपने औलाद की तरक्की मे हर तरह बाधा पहुँचाते हैं किन्तु यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं वाली कहावत को चरितार्थ किये जाते हैं।

शास्त्र में लिखा है दान पात्र को देना चाहिये। अकिल भी मानती है कि हमारे यहाँ जो बड़े-बड़े दान लिख दिये गये हैं सो इसीलिये कि वे दान योग्यता और विद्या के हिसाब से दिये जायँगे तो संस्कृत का अखण्ड पठन-पाठन बना रहेगा, लोग शास्त्र के अभ्यास में परिश्रम करते रहेंगे और खूसटों के मुकाबिले उनकी विशेष कदर रहेगी, सो अब इस कहावत के अनुसार ऐसा करने से लोक विरुद्ध होता है, जिनको सदा से मानते आये हैं उन्हें कैसे न मानैं, चाहे जैसा अपावन और अपाहिज हो बड़े से बड़ा दान पाने का वही अधिकारी है जिसे बाप दादा लीक पीटते आये हैं। इस तरह के दो उदाहरण हमने दिये पर इस कहावत के अनेक उदाहरण आप को मिल सकते हैं। तात्पर्य यह है हमारी तरक्की के अनेक विघातकों में ऊपर की यह कहावत भी एक महाविघातक है।

सितम्बर १८८६

७—विश्वास

विश्वास के वृक्ष का अंकुर सरल और विमल चित्त के आलवाल में जमता है और धर्मांकुशरूप जल से सिंच हरा-भरा और प्रफुल्लित हो इह लोक और परलोक सम्बन्धी मीठे और स्वादिष्ट फलों से लद संसार में मनुष्य के जीवन को सार्थक करता है। सुमार्ग पर चलने, कुमार्ग से बचने और जगत् के प्रबन्ध की उत्तमता के लिये विश्वास एक मात्र सहारा है। अदृष्ट और परलोक में विश्वास से जो कुछ भलाई होती है उसकी व्यवस्था कौन जाने, बिन देखी बात का ठीका कौन ले और कौन लोगों के साथ सिर पचावे।

प्रायः दार्शनिक और कुतर्की विश्वास की प्रणाली को एक, खेल-खिलौना समझते हैं और विश्वास करनेवालों पर हँसते हैं, पर जिन सत्पुरुषों की अकुटिल सरल बुद्धि में पूर्वापर का विचार और स्वच्छ रीति पर संसार-चक्र की धुरी के चलने का रवैया है वे विश्वास को तुच्छ कभी न समझेंगे। चाहे दार्शनिक होने के कारण विश्वास पर विशेष श्रद्धा न रखते हों, पर जगत् के प्रबन्ध की रक्षा के लिये वे यही कहेंगे कि जहाँ तक प्रजा का विश्वास धर्मपथ और उपासना-काण्ड में दृढ़ रहे तहाँ तक अच्छा। हजारों लाखों ऐसे मनुष्य हैं, खासकर हिन्दुस्तान में जो सर्वथा विद्यागुणशून्य हैं, पर धर्म और ईश्वर तथा परलोक में विश्वास के कारण अनेक पापकर्म से बचते हैं और अशक्त दशा या अज्ञान अवस्था में किसी पापाचरण पर कैसा कुछ पश्चात्ताप और अफसोस करते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्रप्रणेता या नीतिप्रवर्तकों ने विश्वास को

जड़ को और पुष्ट किया है, बल्कि गीता में तो यहाँ तक दिया है कि—

"योपयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत्"॥

जो किसी मत या सम्प्रदाय का दृढ़ विश्वासी होता है और अपने धर्मग्रन्थों को ठीक समझता है, पर दूसरे के धर्म में डाह और तअस्सुब नहीं रखता, वह अनुचित कामों से बहुत डरता है और दूसरे लोग उसमे की हुई बातों का बड़ा भरोसा रखते हैं। इसी से पुराने राजा लोग अच्छे धर्मशील तपस्वी विद्वानों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर यथोचित न्याय करने के लिये धर्मासन पर नियत करते थे और उन्हीं को प्राड्विवाक बताते थे।

तात्पर्य यह कि राजा में जो प्रजारंजन का एक विशेष गुण होना चाहिये वह उनमें था—जो मनुष्य अपने मत और संप्रदाय के अनुकूल होगा वह अवश्य सब जीवों पर दया-दृष्टि रक्खेगा, परलोक और ईश्वर का भय मन में रख पापकर्म करने से हिचकेगा और जो मनुष्य अपने यहाँ की धर्म-प्रणाली छोड़ बैठेगा वह स्वच्छन्द विचरेगा, इधर-उधर चक्कर लगावेगा। इह लोक और परलोक के भय से शून्य होगा चाहे वह सकल विद्या पारंगत क्यों न हो।

तात्पर्य यह कि जिसने धर्म की मर्यादा को फूका तापा वह इन्साफ की गरदन पर छुरी फेरते काहे को हिचकेगा तथा प्रजा की लाभ-हानि अपने स्वार्थ के मुकाबले कब देखेगा। क्योंकि जब ईश्वर न रहा, न पुण्य-पाप कोई वस्तु है, न परलोक या पुनर्जन्म है, तब फिर क्या? चार्वाक का मत यही है—

"ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत"
यावज्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

"Eat drink be merry this is the golden rule"

मरने के पीछे जब कुछ हई नहीं तब क्यों भाँति-भाँति की परहेजगारी और संयम मे हलाकान हो जिन्दगी का मजा न लूटे !

इन अविश्वासियों के फिरके मे एक "मॉरलिस्ट" होते हैं अर्थात् समाज मे दूषित चरित्र न कहलाये जायँ, इसलिए हमारी "कानशेन्स" विचारशक्ति क्या कम है। हम सकल साइन्स और फिलॉसफी चाटे बैठे हैं तमाम इल्म और हिकमत हमारी मूठी में हैं। वह कब काम आवेगा जो हम साधारण लोगों की भाँति मजहब और धर्म पर विश्वास रख अनेक तरह के बेहूदा "असंप्शन" अनुमान मान बैठें कि बिहिश्त और दोजख अलग-अलग बने हुये हैं। बिहिश्त मे अल्ला मियाँ राज करते हैं, जिनकी चितवन मे ऐसा असर है कि पुण्यात्मा को वह चितवन अमृतरूप और चिरस्थायी मुक्ति-पद प्रदान करती है। वही पापात्मा गुनहगार की ओर जहाँ आँख उठा के देखा कि वह जहन्नुम की आग मे जल-भुन खाक हो गया इत्यादि।

धर्म या मजहब की जड केवल विश्वास है, इसी पर ईश्वर का अस्तित्व निर्भर है क्योंकि विश्वास विना रक्खे जो कुछ किया जाय वह न करने के तुल्य है इसलिये कि यह पहली सीढी है। विश्वास होने पर भक्ति या श्रद्धा का दर्जा आता है। इसी से गीता में भगवान् ने कहा है—

'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥'

बिना श्रद्धा के जो हवन किया गया, दान किया गया, तपस्या की गई या जो कुछ किया गया, वह न करने के बराबर है; न उसका फल इस लोक मे है न परलोक मे। परलोक के लिये तो किसी तरह पर नहीं है, इस लोक में कभी की तारीफ हासिल करने को दंभ मात्र के लिये है।

लिखा है—"भावेषु विद्यते देवो तस्मात भावोहि कारणम् ।"

भाव अर्थात् विश्वास में देवता रहते हैं इससे विश्वास ही प्रधान है; कहावत भी ऐसी ही प्रचलित है 'मानो तो देव नहीं पत्थर ।" सच्चा विश्वास जिसे एतकाद कहेंगे अब इस समय हम देखते हैं तो बहुत कम हो गया है और ज्यों-ज्यों तालीम का जोर बढ़ता जायगा, सच्चा विश्वास उच्छिन्न होता चला जायगा। केवल दंभ और आडंबर बच रहा सो भी कहीं-कहीं और किसी-किसी में। यही कारण है कि आज-कल के संशोधक रूखी तबियत वाले जिनमें प्रेम और भक्ति का कहीं स्पर्श भी नहीं है, उन्हें चिरकाल का प्रचलित वर्तमान हिन्दू-धर्म सब ओर से दंभ ही दंभ जँचता है। कदाचित् ऐसा हो भी क्योंकि मजहब के साथ मक्कारी ने अपना घनिष्ठ संबंध जोड़ रक्खा है, पर धर्मसंबंधी सब दंभ ही दंभ है, हम ऐसा कभी न मानेंगे बल्कि उन्हीं संशोधकों का थोड़ा दोष है जिनमें भक्ति का किंचित् भी लगाव नहीं है।

कृष्ण चैतन्य, महाप्रभु, नानक और कबीर आदि पुराने संशोधकों और इस समय के संशोधकों में यही बड़ा अन्तर आ गया है। पुराने संशोधक भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से पूर्ण थे तो कुछ उन्होंने किया उसमें पूर्णतया कृतकार्य हुये। कृष्ण चैतन्य ने संपूर्ण बङ्गाल को अपना अनुयायी कर डाला; गुरु नानक देव ने पञ्जाब भर को अपना चेला मूड़ लिया; वल्लभाचार्य ने गुजरात को अपना कर डाला; रामानुज स्वामी ने मन्द्राज में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर दिखाया। इन दिनों संशोधक गला फाड़-फाड़ गली-गली चिल्लाते फिरते हैं, पर उनके कहने का किसी पर कुछ असर नहीं होता; इसलिये कि ये रूखे वैज्ञानिक मन भक्ति, श्रद्धा और सच्चे विश्वास को अपने में नहीं आने देते। अन्तर्यामी परमात्मा

उद्यम में यथोचित कृतकार्य नहीं करता।

इन दिनो झूठा विश्वास Falsa beliet चल पड़ा है, सभ्य समाज वाले अपढ़ मूर्खों को किसी धर्म-सम्बन्धी कार्य मे लगे हुये देख उनके विश्वास को फाल्स बिलीफ कह उन्हें हँसते हैं; पर हम कहते हैं, विश्वास ऐसी चीज है कि वह झूठा हो ही नहीं सकता। जिन्हें विश्वास हई नहीं उनसे उनका झूठा विश्वास भी भला, वल्कि यों कहिये जिस पर जिसका विश्वास जम गया उसको वह विश्वास ही तदाकार हो भावनानुकूल फल देता है। इसी से कहा है "विश्वासः फल दायकः"। जो कुछ हो अब इस समय हम देखते हैं तो विश्वास की जड़ वहुत कट रही है, जिसका परिणाम सोचते हैं तो बड़ा भयकर जान पड़ता है। आस्तिक्य बुद्धि, ईश्वर मे प्रीति यह सब बातें बड़े कल्याण की हैं, न जानिये क्यों हमारे सुसभ्यों को इधर से अरुचि है; बड़े लोग हैं कुछ समझे होंगे; हम अपनी ओछी अल्प बुद्धि को कहाँ तक पछताये जो जेठऊ तरबूज से उनके भारी और पैने दिमाग के साथ नहीं मिल बजती।

जनवरी १८९६

८—तर्क और विश्वास

तर्क और विश्वास दोनों संसार के चलाने की ऐसी अद्भुत शक्तियाँ हैं कि जिनके न रहने से मनुष्य के मनुष्यत्व में अन्तर पड़ जाता है। जब तक आदमी का होशहवास दुरुस्त है तब तक तर्क और विश्वास दोनों भरपूर काम देते हैं। विक्षिप्त या पागल में ये दोनों रहते तो हैं परन्तु इनका प्रयोग यथावत् पागल मनुष्य नहीं कर सकता।

अब इन दोनों के यथावत् काम देने पर विचार होता है कि इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है। कर्म-इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ-पाँव आदि के द्वारा इनके सम्बन्ध का ज्ञान किसी तरह हो ही नहीं सकता क्योंकि इनके सम्बन्ध का ज्ञानस्थल इन्द्रियों से कोई सरोकार नहीं रखता। अब रहीं ज्ञान-इन्द्रियाँ, उनमें तर्क बुद्धि का धर्म है और तर्क अहंकार की विविध शक्तियों में एक शक्ति है। जब किसी स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान-दर्शन या ज्ञान इन्द्रियों से मन के द्वारा अहंकार को होता है तब बुद्धि अपनी तर्कना-शक्ति से निश्चय करती है कि यह ज्ञान वास्तव में सत्य है या झूठ। सच-झूठ के निश्चय के उपरान्त अहंकार उस पर विश्वास लाता है। इससे प्रगट हुआ, तर्क और विश्वास में सेवक स्वामी का-सा सम्बन्ध है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि जब दोनों में इस प्रकार का सम्बन्ध है तो संसार के मनुष्यों के तर्क और विश्वास में क्यों इस तरह का अन्तराय है, उचित था कि सम्पूर्ण मनुष्यमात्र का एक-सा विश्वास होता। इसका मुख्य उत्तर यह है, कि हर एक मनुष्य [illegible]

को देखे और तब उससे अपना अनुमान निकाले। ऐसा करने से जल्द प्रगट हो जायगा कि संसार के सब मनुष्य क्यों एक विश्वास के नहीं होते।

कारण इसका यह है कि सब लोग एक ही तरह का तर्क नहीं करते बल्कि लोगों के तर्क करने का प्रकार भिन्न-भिन्न है। एक प्रकार के तर्क करनेवाले वे हैं जो तर्क करने मे ऐसे आलसी होते हैं कि अपनी बुद्धि को थोड़ा भी परिश्रम नहीं दिया चाहते, अपने गुरु या बड़े लोगों के किये हुए तर्क पर जल्द विश्वास कर लेते हैं। ऐसे मनुष्यों को तर्क करने की शक्ति प्रतिदिन कुण्ठित होती जाती है। ऐसों का विश्वास वही रहेगा जैसा उनके बाप-दादों के समय मे चला आता है। बाप-दादों का विश्वास चाहे कैसा ही पोच हो पर वे लकीर के फकीर बने ही रहेंगे। ऐसे लोगों से यदि पूछा जाय कि तुम अपनी बुद्धि को क्यों नहीं काम में लाते तो वे पट से यही जवाब देंगे कि क्या हमारे बाप-दादे मूर्ख और नासमझ थे, क्या हम उनसे अधिक बुद्धिमान हैं। हिन्दुस्तान मे तो ऐसे लोगों की इतनी अधिकाई है कि १०० में ६० से कम न होंगे। किन्तु थोड़े या बहुत ऐसे मनुष्य तो हर एक जाति और देश मे पाये जाते हैं। इसीलिये संसार मे इतने तरह के अलग-अलग मत और एक मत मे अलग-अलग बहुत से जुदे-जुदे सम्प्रदाय हैं जिन्हे बड़े-बड़े लोगों ने अपना मतलब गाँठने को या अपने देश की भलाई या उन्नति के लिये जुदे-जुदे देशों में जुदे-जुदे समय में फैलाया और अब तक फैलाते जाते हैं। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के इस आजादगी के जमाने में अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से अब उन भिन्न-भिन्न मत, धर्म या सम्प्रदायों की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जो अपने रोजमर्रा के काम में ऐसी तीखी बुद्धि रखते हैं और तर्क को इतना काम में लाते हैं कि बहुत

कम लोग चालाकी, बुद्धिमानी और न्यायपूर्वक विचार मे उनकी बराबरी कर सकते हैं, परन्तु जब किसी ऐसे विश्वास को तर्क के द्वारा शुद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है, तर्क के बदले क्रोध करने लगते हैं, यहाँ तक कि न अपनी बात कहते हैं, न दूसरों की सुनते हैं, क्रोध में इतना आग बबूला हो जाते हैं कि मानो उठाकर निगल जाँयगे और यही समझते हैं कि यह हमारा गुस्सा ही तर्क का पूरा काम देगा और हमारे विश्वास की पुष्टता हो गई। पर ऐसे काम के लिये बड़ा चालाक आदमी चाहिये और इस तरह के चालाक बहुत कम पाये जाते हैं। ऐसे लोगों से समाज का काम तो भरपूर निकल सकता है परन्तु सत्य का पोषण नहीं हो सकता, इसलिये कि उनका विश्वास भी गुस्से की रंगत पकड़ लेता है।

एक प्रकार के पुरुष और भी हैं जो सच्ची नीयत से विश्वास के पोषण मे तत्पर हैं और सत्य के अन्वेषण में भी उद्यत हैं किन्तु बुद्धि-वैभव में इतने पूर्ण नहीं कि तर्क के द्वारा अपने विश्वास को सत्य के पास तक पहुँचा सकें। तर्क तो करते हैं किन्तु उनका तर्क एकदेशीय होता है इसलिये सत्य का पूरा निश्चय नहीं कर सकते और बिना पूरा निश्चय के जो विश्वास हो वह कच्चा विश्वास है इत्यादि। कई प्रकार के तर्क करनेवाले यहाँ दिखलाये गये। पर सच तो यों है कि विश्वास और तर्क दोनों एक दूसरे के इतना विरुद्ध हैं कि तर्क विश्वास के लिये कुलाढ़ा है। विश्वास को जब तक चित्त में स्थान न होगे, तर्क की शृंखला कभी टूटे ही गी नहीं।

जनवरी १८९२

९—नीयत

नीयत अजीब चीज है और आदमियों के तमाम कामों से अच्छा या बुरा करार दिये जाने की एक ही कसौटी है। कोई काम जिसका परिणाम बुरा से बुरा है बुरा नही कहा जायगा, अगर उस काम को करनेवाले की बुरी नीयत से नहीं किया गया तो उसका यश करने वाले को नहीं मिल सकता। जितने काम संसार मे किये जाते हैं, जानबूझकर किये गये हों या भूल से किये गये हों या उस हालत में किये गये हों जब कि आदमी अपने होश या काबू मे नहीं हैं, सब अवस्था मे गुण या दोष की डिगरी की नियमक नीयत ही है। घिनौने से घिनौना काम बन पड़ा हो पर नीयत उसके करने की न पाई जाती हो तो उस काम के करनेवाले को दोषी न कहेंगे। इसी तरह पर भले काम का करनेवाला भी नीयत ही से भला कहा जा सकता है। इसीलिये सीधे-सच्चे मनुष्य का काम सदा अच्छा और प्रशंसा के लायक होता है। अच्छे इरादे अच्छी नीयत से जो उसने किया है तो उसको अपने काम मे सरसब्जी भी भरपूर होते देखी गई है। इसी तरह कुटिल मनुष्य जिसका काम कुटिल इरादे से किया गया है उसमें कामयाबी बहुत कम होते देखी जाती है। इस कारण नीयत मनुष्य के मनरूप तख्त-ताऊस पर सुशोभित उसके बाहरी कामों में जगमगाती ज्योति के साथ प्रकाशमान रहती है।

नीयत फलती है। नीयत की बरकत—सत्य की बाँधी लक्ष्मी फिर मिलेगी आय—इत्यादि कहावतों से मालूम होता है। ये उन अगाध-बुद्धि गम्भीराशय लोगों के सिद्धान्त हैं जिन्होंने संसार में मनुष्य के चित्तों को खूब थहाया या समझा है। लाखों का काम चल रहा था।

दैवदुर्विपाक से कोई ऐसी दुर्घटना आ पड़ी कि सब डिगमिग हो गया, कहीं कोई शरण देनेवाला न रहा। व्योपारियों मे एक पैसे की मातबरी न रही, बुरे दिन ने अंधड़ के समान सब ओर से आ घेरा, जितना कारण था सब डिगमिगा गया पर नीयत में डिगमिगाहट न आई, शुद्ध बनी रही; मालमताब जरजेवर जो कुछ पास था सब का निकास कर यह पुरुषसिंह धीरज न छोड़ नीयत का शुद्ध रह उस अंधड़ का मुकाबिला बराबर करता गया, थोड़े ही समय में कौड़ी-कौड़ी सबका चुकता कर दिया, बात बनी रही, मुँह उजागर रहा—

"सत्य की बांधी लक्ष्मी बहुर मिलैगी आय।"

इस सिद्धान्त को पुष्ट करते हुये दयालु परमेश्वर ने इसके नीयत की कसौटी के उपरान्त फिर सब बात पहले के समान कर दी। जो उस बिगड़े समय इसकी हवा बरकाते थे, इससे बात करना महापाप समझते थे, वे ही अब आकर खुशामद बजाने लगे। कवि की इस उक्ति का "नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण" पूरा दृष्टान्त मिल गया।

यह अद्भुत बात है कि यद्यपि नीयत एक ऐसी वस्तु है जिसका पता लगना बड़ा कठिन है पर जिस तरह कस्तूरी की महक छिपाये नहीं छिपती उसी तरह आदमी के छिपे से छिपे गुण-अवगुण भी बिना प्रकाश हुये नहीं रह सकते। जिसकी नीयत शुद्ध है उस पर न समाज अंगुश्तनुमाई कर सकता है, न अदालत सख्ती करेगी। इतना ही नहीं वरन् समाज और अदालत दोनों की ओर से उस पर रहम की जाती है। बल्कि अदालत में "क्रिमिनल ला" फौजदारी के कानून इस नीयत ही की बुनियाद पर गढ़े गये हैं। सख्त से सख्त जुर्म खून के मुकद्दमे में भी बहुधा नीयत ही पर फैसला होता है। किसी को थोड़े में बहुत यश मिलता है, किसी को बहुत में भी थोड़ा सा। यह सब नीयत ही का फल है। जिनकी नीयत बुराई करने की होती है उन्हें बिना किये भी उसका अयश मिल जाता है।

बुद्धिमान् लोग जिन्हें हर तरह की सोहबत में रहने का मौका मिला है और जो हर तरह की बातों के अनुभव में एक हैं, सूरत देख कर या संभाषणमात्र से नीयत को परख लेते हैं। व्यौपार मे केवल नीयत की बरकत रहती है, जिससे सूत का बाँधा हाथी चलता है। हमारे देश की महाजनी मे साख और है क्या ? यही नीयत, जो जरा भी डिगमिगानी कि साख कोसों दूर हटी। हुँडी-पुरजा बन्द कर दिया गया, दीवालिये बैठे-बैठे सिर खुजलाया करें और मक्खी मारते रहें। व्यौपार मे जो हम नीयत के चरखे को बार-बार ओटते हैं उसका कारण यही है कि इसमे जैसी जल्दी नीयत फलती है वैसी और किसी काम मे नहीं। बाप, दादा, आदि मूरिसआला की नीयत यद्यपि औलाद पर उतरती है पर वैसी जल्द नहीं जैसा व्यौपार मे। मनु का वाक्य भी है—

"यदि नात्मनि पुत्रेषु नच पौत्रेषु नप्तृषु।
नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति चान्यथा॥

जनवरी १८९३

जितने खाद्य पदार्थ हैं उन का स्वाद या जायका जिह्वा के अग्र-भाग से क्षण भर के संयोग का है, गले के नीचे उतरा कि स्वादिष्ठ और वेलज्जत भोजन दोनों एक-से हैं।

आस्वाद्यस्य हि सर्वस्य जिह्वाग्रे क्षणसंगमः।
कण्ठनाडीमतीतं च सर्वं कदशनं समम्॥

केवल स्वाद चखना जीभ का फायदा हो सो नहीं वरन् शरीर के और-और अंग की अपेक्षा इसके गुण या दोष भी सबसे अधिक प्रबल हैं। बडे से बडा फायदा और बड़े से बड़ा नुकसान दोनों इसके द्वारा हो सकते हैं। गाँठ का एक पैसा भी बिना गँवाये मीठी जबान लाखों का फायदा सहज मे कर सकती है—

"कागा काको धन हरै कोयल काको देय।
मीठो वचन सुनाय के यश अपनो कर लेय।"

नुकसान भी आदमी कडुई या बदजबानी से इतना उठाता है कि सब उमदा सिफतों के होते भी लोग कटुभाषी या बदजबान के पास जाते हिचकते हैं, कटहा कुत्ता सा वह सबों से वरकाया जाता है। जबान को समस्त सभ्यता और शाइस्तगी का सारांश कहना अनुचित नहीं है। अब तक जो कुछ तरक्की संसार में हुई है उसका द्वार जबान ही है। इन्सान और हैवान में यही तो अन्तर है कि जानवर हम लोगों की तरह अपने खयाल जबान से कहकर नहीं अदा कर सकते, नहीं तो और सब इन्द्रियों के लालन-पालन मे आहार निद्रा भय मैथुन आदि के द्वारा पशु और मनुष्य की समता होने में कौन-सा अन्तर बच रहा। लिख कर अक्षरबद्ध रख छोड़ने का क्रम तो बहुत दिनों के बाद निकला। प्रारम्भ से जबान से कहना और कान से सुन उसे याद रखना ही बहुत दिनों तक जारी रहा। ज्यों-ज्यों लोग अधिक सभ्य होते गये, हिन्दी की चिन्दी निकालने लगे। तब वे ही सूत्र जो जबान से कहे गये उनपर भाष्य शरह और कमेंटरी होती

जाते हैं जिससे उसमे सुगन्धि आजाय, और सुगन्धित भोजन मामूली भोजन से सवाया अधिक खाया जाता है।

अब दूसरी बात नेत्र को जिह्वा से क्या सरोकार है। साफ और स्वच्छ पदार्थ देखते ही जीभ से पानी टपकने लगता है, स्वादिष्ठ भोजन कमीफ और मैला हो तो, भाव दुष्ट होने से चित्त उस पर इतना नहीं लहालोट होता जितने साफ और स्वच्छ पदार्थ पर जो नेत्र को भावता हो। इसी तरह स्पर्श-सुख का सूक्ष्म अनुभव जैसा जीभ कर सकती है वैसा शरीर के दूसरे हिस्से नहीं कर सकते। इसी से जीभ का रसना यह नाम सब भाँति सार्थक है। ईश्वर करैं रसना किसी की रस के अनुभव मे तेज और चोखी हो। चटोरी जीभ लाखों रुपया चाट बैठती है और हविस उसकी नहीं बुझती।। न जानिये कितने लोग केवल चटोरी जीभ के कारण लाख का घर खाक मे मिलाय सब चाट बैठे। जुआ शराब ऐयासी चटोरापन इन चारों ऐबों मे किसी एक का हो जाना बरबादी के छोर तक पहुँचाने के लिये काफी है। दैव के कोप से जिनमे चारों हैं उनकी सपूती और लियाकत का भला क्या कहना।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितेन्येन्द्रियकः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावत् जित सर्वं जिते रसे॥

तब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं हो सकता चाहे और सब इन्द्रियों को वश मे कर भी लिया हो जब तक रसना को अपने वश नहीं किया। एक जिह्वा को काबू मे रख कर बाकी और इन्द्रियाँ काबू मे आ सकती हैं। और भी—

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥

चटोरी जीभ के कारण मनुष्य मूढ़ बन मछली के समान जिह्वा के वश मे पड़ नष्ट हो जाता है

चुक जाता है, कोई बात नहीं रहती जिस पर वे अपने गप्प को काम में लावें तब वे कुछ ऐसी कल्पना किया करते हैं जिससे दूसरों को बदनाम करैं, चीट उड़ावैं, किसी का कुछ कलङ्क उद्‌घाटन करें इत्यादि। चुप उनसे नहीं रहा जाता, कुछ कहना अवश्य—

"मुखमस्ति च वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी"।

मुख में जीभ ईश्वर ने दी है तो कुछ कहना चाहिये। हाँ सुनिये सौ हाथ की हर्रैं—ऐसे लोग जिन्हें बहुत बकने का अभ्यास हो गया है अपनी बकवाद की जोश में वह बात कह डालते हैं, जो न कहना चाहिये या जिसे कहकर वे पीछे पछताते हैं। यहाँ तक बेफायदा बकवाद उन्हें पसन्द आती है कि जब तक मन मानता बक न लें, अघायेंगे नहीं, जैसा स्त्रियों में बहुधा ऐसी होती हैं कि २४ घण्टे में कम से कम ६ घण्टे लड़ न लेंगी उन्हें अन्न न पचेगा। नौवाबो में किस्सेगो इस किस्म के रहते थे कि दिनभर कहो बकते रहैं, उनके किस्से की लर न टूटे। चण्डूखाने में चण्डूबाजों की गप्प मशहूर हुई है। इन बकवादियों की भी कई किस्में हैं। कितने तो ऐसे हैं कि उन की कोई सुने या न सुने उनको बक जाने से काम। कितने ऐसे हैं कि उनकी बकबक का किसी ने निरादर किया कि उन्हें क्रोध आ जाता है, बिगड़ खड़े होते हैं। कितने ऐसे हैं कि अपनी बकवाद को रङ्गीन और दिलचस्प न समझ सुनने वाले को नापसन्दीदा जान चट उसमें कुछ ऐसा ईजाद कर देते हैं कि थोड़ी देर के लिये सबों का ध्यान उस ओर मुखातिब हो जाता है। इसे वे एक हुनर मानते हैं और इस ढङ्ग से बात करते हैं कि उनकी सरासर झूठ बात सब लोग सच मान लेते हैं।

जीभ को न दबाना अनेक बुराई और क्लेश का कारण है। महाभारत ऐसा सर्वनाशी संग्राम इसी जीभ के न दबाने की बदौलत किया गया। द्रौपदी ने यदि दुर्योधन को 'अन्धे के अन्धे' होते हैं इस

गईं और उन्हे बृहत् होने के कारण स्मरण-शक्ति के बाहर समझ लोगो ने सकेत के ढङ्ग पर अक्षर निकाले और लिखकर रख छोड़ने लगे।

तात्पर्य यह कि यावत् विद्या और ज्ञान पहले जिह्वा से कह कर प्रकट न किये गये होते तो केवल लेख-शक्ति से कुछ न होता, न हमारी सभ्यता इस छोर तक पहुँचती। जबान को दबाना क्रोध को दबा रखने का एक ही उपाय है। कई बार की आजमाई हुई बात है कि कैसा ही क्रोध आया हो चिल्लाने के एवज धीरे-धीरे बोलो, क्रोध क्रम-क्रम आप ही शान्त हो जायगा। जीभ समाज को कहाँ तक लाभदायक हुई सो दिखला चुके।

अब धर्म-सम्बन्ध में जिह्वा पर लगाम रखने की कितनी आवश्यकता है सो दिखलाते हैं। सच तो यों है कि जीभ पर बिना कोड़ा रक्खे धर्मिष्ठों को धर्मधुरन्धर बनने का दावा करना सर्वथा व्यर्थ है। वह अवश्य धोखे मे पड़ा है जो अपने को धर्मिष्ठ तो मानता है पर जीभ को अपने काबू मे नहीं किया। झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, चुगली बदगोई इत्यादि से बचना ही जीभ पर लगाम नहीं कहलावेगा क्योंकि झूठी गवाही चुगली गाली इत्यादि बड़े-बड़े पापों का विषय निराला है। कानून फौजदारी "क्रिमिनल ला" की मद्द मे उसकी गिनती है और सरकार की ओर से उसके लिये दण्ड नियत है। जिस पर जान-बूझकर शामत सवार होगी वही ऐसे-ऐसे अपराधों में अपने को फँसाय कैद और जुरमाने का सजावार बनावेगा।

बल्कि जबान में लगाम से प्रयोजन गप्पी और वाचाल का है, जिसे अपनी गप्पाष्टक के समय आगे-पीछे का कुछ खयाल नही रहता, न अपनी या पराये की हानि-लाभ का। जिनको गप्प हाँकने की आदत हो गई है वे इसे अपने लिये दिल-बहलाव मानते हैं, इसमें किसी तरह ऐब या पाप नहीं समझते और जब उनके गप्प का विषय

उनकी वज्र-भाषी कटु वाणी इस बात का चिन्ह है कि वे नरक झेल कर आये हैं और मर कर फिर नरक में जायँगे। इसी के विरुद्ध एक ऐसे भी सुकृती जन हैं जो अपनी मीठी बोली से मन खींच लेते हैं। धन्य हैं वे स्वर्गगामी जन, इत्यादि जिह्वा के सम्बन्ध में जो कुछ वक्तव्य था हमने सब कह सुनाया।

जुलाई १८९५

मर्मवेधी वाक्य को कह मर्म-ताड़न न किया होता और दुर्योधन को पाण्डवों से खार न पैदा हुई होती तो परिणाम मे १८ अक्षौहिणी सेना काहे को कट मरती, जिसका धक्का जो हिन्दुस्तान को लगा बल्कि जैसा कारी घाव इसके शरीर मे हो गया, उसकी मरहमपट्टी आज तक न हो सकी। इन्हीं सब कारणों से सिद्ध हुआ, मनुष्य अपनी जीभ पर जहाँ तक चौकसी कर सके और उसको दबा सके, दबावै। इस पर चौकसी रखने से अनेक भलाइयाँ हैं और स्वच्छन्द कर देने से सब तरह की बुराइयों की सम्भावना है।

जीभ को दबाना और चौकसी रखने से यह प्रयोजन नहीं है कि हम सर्वथा मूकभाव धारण कर लें, किन्तु चुप रहने के भी मौके हैं। विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध या संसार की अनेक ऊँची नीची बातों के अनुभव मे जो अपने से अधिक हैं उनके सामने शालीनता के खयाल से चुप रहना होता है जिसमें यह कोई न समझे कि यह छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है। बहुत बकनेवालों में कितने ऐसे हैं कि घंटों तक बक जाते हैं, पर उनके बात करने का खास मतलब क्या था, कुछ समझ में नहीं आता। इस तरह पर बात करनेवालों की कई किस्मे हम यहाँ पर गिना सकते हैं। एक वे हैं कि हँसते जाते हैं, बात करते जाते हैं—"हसन्मूर्खः", "हसन्नजल्पे" इत्यादि वाक्य साक्षी हैं कि बात कहने का यह क्रम मूर्खता की पहचान है। एक सखुनतकिया-वाले होते हैं। दस लफ्ज का एक जुमला होगा तो ५ लफ्ज उसमें उनके तकिया-कलाम के होंगे। इनमे जिन्हें गाली की सखुन-तकिया पड़ जाती है उनकी घिनौनी बात कान को महा असह्य मालूम होती है। एक वज्र-भाषी होते हैं। बात उनके मुख से क्या निकली मानो गाज गिरा। ऐसों की आदत होती कि जहाँ कोई बात बनती हो तो ये वहाँ पहुंच उसे बिगाड देने मे कसर न करेंगे।

"अतीव रोषो कटुका च वाणी नरस्य चिन्हं नरकागतस्य।"

आपकी कीर्ति हंसी के समान धवल है। यहाँ दोनों में सामान्य गुण धवलता में सादृश्य दिखाया गया है।

(अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव)

मुग्धे, तेरा हाथ कमल के समान ताम्रवर्ण है। यहाँ कमल और नायिका के हाथ की ललाई साधारण धर्म में सादृश है।

(सलीलमिदमायाति वधूर्गजवधूमिव)

यह वधू गज वधू (हथिनी) की सी अठखेली चाल से चली आ रही है। यहाँ आना इस क्रिया में सादृश्य है।

(आकाशःकाशतेऽत्यर्थं शिववद्विधुभूषण)

चन्द्रमा से भूषित आकाश शिव के समान शोभा दे रहा है। यहाँ विधु रूप द्रव्य से सादृश्य पाया जाता है।

कभी प्रसिद्ध बात को विपर्यय उलट कर उपमा दिखाई जाती है इसे विपर्यासोपमा कहते हैं। (तवानन मिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिदं) तेरे मुख के समान खिला हुआ अरविन्द था। यहाँ खिलना धर्म पुष्प का है जो अरविन्द (कमल) में होता है सो मुख में माना गया यह विपर्यय है। विश्वनाथ का मत है कि यह उपमा से अलग प्रतीप नाम का एक दूसरा ही अलंकार है, अर्थात् जो उपमान है उसे उपमेय बना देना, जैसे (त्वल्लोचनसमं पद्म त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः) तेरे लोचन के समान पद्म है और तेरे मुख के समान चन्द्रमा है। नेत्र की उपमा कमल से और मुख की उपमा चन्द्रमा से बहुधा दी जाती है सो यहाँ उलटा किया गया। और भी। "यत्त्वन्नेत्र समानकान्तिसलिलेमग्नं तदी-न्दीवरं, मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। येऽपित्वद्गमना नुसारिगतयस्ते राजहंसागतास्त्वत्सादृश्य विनोदमात्रमपि मेदैवननक्षम्यते"।

रामचन्द्र सीता के वियोग में कहते हैं—प्रिये, तुम्हारे नेत्र की कान्ति के समान कान्ति रखनेवाले जो कमल थे सो इस वर्षाऋतु के आ जाने से पानी में डूब गये। तुम्हारे मुख की छाया का अनुहार

११ उपमा

उपमा एक ऐसा अलंकार है जिसकी उपयोगिता न केवल पढ़े-लिखे लोगों को होती है, वरन् हमारी नित्य की साधारण बात-चीत में भी बिना उपमा के काम नहीं चलता। उच्चश्रेणी के लोग जिन्हें हम विदग्ध नागरिक या तरबियत याफ्ता कहते हैं उनके बीच तो इस उपमा की वडी-बड़ी बारीकियाँ निकाली गई हैं किन्तु ग्रामीण और घरेलू बोलचाल मे भी इसका-अनुत्तम प्रयोग किया जाता है, जैसा (तौर वेटौना साँड़)—(लम्बा जैसा खजूर)—(पतला जैसा बाल), इत्यादि ऑगरेजी मे इस प्रकार के कथन को 'सिमिली' कहते हैं और यह साहित्य की पहिली सीढी है। हमारे यहाँ के साहित्य के एक मात्र आधार और साहित्यार्णव-कर्णधार विद्वानों ने इस उपमा की कहाँ तक छान की है, आज हम उसी के संबन्ध में कुछ लिखा चाहते हैं।

दण्डी आचार्य का मत है—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।

उपमा नाम सा—किसी के वर्णन में जहाँ वर्णनीय की उत्कर्षता और वर्णन में चमत्कार पैदा करने वाला किसी प्रकार का सादृश्य दिखाया जाय वह उपमा है। रस गंगाधर में जगन्नाथ पंडितराज का मत है—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यमर्थोपस्कारकारकं उपमा

सौन्दर्य अर्थात् चमत्कृति जिससे चित्त मे एक प्रकार का आनन्द विशेष पैदा हो उठे ऐसा जो उपस्कृत वाक्य या अर्थ वह उपमा है। सादृश्य धर्म गुण और क्रिया से लिया जाता है।

(हसीब धवलाकीर्ति.)

है और चन्द्रमा क्षयी अर्थात् घटा-बढ़ा करता है इसके निन्दा के योग्य है और तेरे मुख में पूर्वोक्त कोई दोष न होने से सर्वथा तेरा मुख अनिन्दनीय है। इसे निन्दोपमा कहते हैं।

(ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः । तौ तुल्यौत्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते) पद्म जिससे ब्रह्मा पैदा हुये हैं और चन्द्रमा जिसको महादेव ने अपने सिर पर धारण किया है सो तेरे मुख के सदृश हैं तो तेरे मुख की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। इसे प्रशंसोपमा कहते हैं।

(शतपत्रंशरच्चन्द्रस्त्वदाननमितित्रयं । परस्पर विरोधीति सा विरोधोपमा मता) कमल, शरत् की पूनो का चाँद और तेरा मुख ये तीनों परस्पर एक दूसरे के साथ होड़ करते हुये आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं—इसे विरोधोपमा कहते हैं।

(नजातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुं । कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैवसा)

कलंकी और जड चन्द्रमा की तेरे मुख के साथ होड़ करने की भला क्या सामर्थ्य है। इसे प्रतिषेधोपमा कहते हैं।

(आकर्ण्य सरोजाक्षि वचनीयमिदं भुवि। शशाङ्कस्तव वक्त्रेण पामरैरुपमीयते)

हे कमल के समान नेत्रवाली, इस बात को सुन कर कि पामर लोग सब धान बारह पसेरी के हिसाब पर चन्द्रमा को तेरे मुख के साथ बराबर करते हैं। इससे भी वही पहले कही हुई बातों का सब तात्पर्य है।

(न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौचक्षुषीइमे) यहाँ यह पद्म नहीं किन्तु मुख है। यह भृङ्ग नहीं वरन् नेत्र हैं। सत्य बात को बतला कर संदेह दूर करता है, इससे इसका नाम तत्त्वाख्यान उपमा है।

(कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवं । राजन्ननुकरोषीति

करनेवाले चन्द्रमा को बादलों ने आकर छिपा लिया। जो तुम्हारी सी चाल का अनुकरण करनेवाले हंस थे वे भी मानसरोवर को चले गये। अस्तु, तुम्हारे वियोग में जिस वस्तु में तुम्हारा कुछ भी सादृश्य था उसी ही से हम अपना जी बहलाते थे। दैव प्रतिकूल हो उसे भी न देख सका।

एक अन्योन्य उपमा है—"तवाननमिवोन्निद्रमंभोजमिवतेमुखम्"। तेरे मुख के समान कमल खिला है और कमल के समान तेरा मुख। अन्यच्च (गगन गगनाकारं सागर सागरोपमम। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव)। आकाश की उपमा आकाश ही है। समुद्र के बराबर का समुद्र ही है। राम और रावण का युद्ध राम रावण के युद्ध ही की उपमा हो सकता है। और भी—(गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभातिगिरिः। निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झर श्रवति)। ऊँचाई में यह हाथी पहाड़-सा है और यह पहाड़ हाथी-सा ऊँचा देख पड़ता है। झरने के समान इसके मद की धारा बह रही है। इस पहाड़ से झरने हाथी के मद-से बह रहे हैं। चन्द्रालोक में इस प्रकार की उपमा को अनन्वय-अलंकार कहा है।

उत्प्रेक्षितोपमा-(मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्थनैः पद्मेऽपि सायद्दस्त्येवेत्यसा वुत्प्रेक्षितोपमा) मेरे ही में उसके मुख की शोभा है, चन्द्रमा यह तेरा घमण्ड करना व्यर्थ है क्योंकि वह कमल में भी है। इस उपमा को उत्प्रेक्षितोपमा कहते हैं। (किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किन्तेलोलेक्षणंमुखम) (चंचल कटाक्ष-युक्त यह तेरा मुख है या भ्रमर को भीतर छिपाये हुये कमल का पुष्प है। यहाँ अन्त भ्रान्तालि का सादृश्य काली पुतली से है।

(पद्म बहुरजश्चन्द्रः क्षयितास्या तवाननम। समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमास्मृता) पद्म और चन्द्रमा तेरे मुख के समान तो हैं पर पद्म में रज अर्थात् धूलि जो फूलों में साधारण रीति पर रहती ही

हो रहा है । यहाँ चारों उपमा कड़ी के समान एक दूसरे के साथ जुटी हुई हैं । वाल्मीकि के सुन्दरकाण्ड में इस प्रकार की उपमा तथा मालोपमा बहुत हैं । यथा—

(हंसो यथा राजति पंजरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः । वीरो यथा गर्वितकुंजरस्थश्चन्द्रोपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ॥)

(शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः । राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशो विरराजचन्द्रः) इत्यादि ।

चन्द्रालोक में उपमा का क्या स्वरूप है उसे भी दिखाते हैं— उपमान अर्थात् अधिक गुण वाले चन्द्र चंदन कमल आदि उपमेय अर्थात् वर्णनीय पदार्थ मुख आदि हीन गुणवाले । इन हीन गुणवालों का जिसमें विशेष गुणवाले से सादृश्य दिखाया जाय वह उपमा है । अब उपमान उपमेय साधारण धर्म अर्थात् जिस बात में दोनों का सादृश्य दिखाया जाय और इव तुल्यवत् यथा आदि उपमा के द्योतक शब्द जहाँ हों वह पूर्णोपमा है । इन चारों में से एक या दो या तीन बात के न होने से लुप्तोपमा कही जाती है ।

यथा—(गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मःशरासने)

बोलने में बृहस्पति, कीर्ति में अर्जुन और बाण-विद्या में भीष्म हैं । यहाँ समान इव तुल्य आदि पद प्रत्यक्ष नहीं कहा किन्तु उनके समान हैं । यह अर्थ अन्तर्गर्भित है, इसे वाचक लुप्तोपमा कहेंगे ।

"गाम्भीर्यं गरिमा तस्य सत्यं गंगा भुजंगवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बर रत्नवत् ।"

इसकी गंभीरता और गरुआई सत्य-मत्य समुद्र के समान है । जेठ-बैशाख के सूर्य के समान उसे लड़ाई के मैदान में कोई नहीं देख सकता । यहाँ चारों बात प्रत्यक्ष कही गई हैं इसलिये यह पूर्णोपमा है ।

(आकृष्ट नरवालोऽसौ संपरायेपरिभ्रमन् । प्रत्यर्थि सेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः)

सैष हेतूपमा मता)

हे राजा, तुम शरीर की कान्ति के कारण चन्द्रमा का, तेज और प्रताप के कारण सूर्य का और गम्भीरता के कारण समुद्र का अनुकरण करते हो। इसे हेतूपमा या कारणोपमा कहते हैं।

(बालेवोद्यान मालेयं साल कानन शोभिनी) सालवृक्ष के (कानन) वन से शोभायमान दूसरे पक्ष में अलक सहित (आनन) मुख से शोभायमान यह (उद्यानमाला) वन परम्परा (बाला) स्त्री के समान सोहती है। इसे समानोपमा या सहोपमा कहते हैं।

एक ही उपमा के जहाँ बहुत से उपमान हों वह मालोपमा है, जैसा—

(वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी। यौवनेनेव वनिता नयेन श्री मनोहरा)

इस राजा की सम्पत्ति न्याय के कारण ऐसी मन को हरने वाली है जैसा कमल से तलैया, चन्द्रमा के रजनी, यौवन में वनिता मन हरती है।

निधान गर्भामिव सागराम्बरां शमी मिवाभ्यन्तर लीन पावकम्। नदीमिवान्तः सलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥इति रघौ॥

जैसा (रसना) कर्धनी की कड़ी एक दूसरी के साथ जुटी रहती है वैसा ही एक उपमा दूसरी उपमा के साथ जुट जाने से रसनोपमा होती है। यथा—

(चन्द्रायते शुक्ल रुचापि हंसो हंसीयते चारु गतेन कान्ता। कान्तायतेस्पर्श सुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहाय) ?

सफेदी से झलकता हुआ हंस चन्द्रमा का-सा प्रतीत होता है और हंस की-सी चाल चलती हुई कान्ता हंसी-सी हो रही है। स्पर्श-सुख के कारण जल कान्ता का-सा आचरण कर रहा है। स्वच्छता गुण से आचरण कर रहे हैं। स्वच्छता गुण से आकाश जल का-सा विमल

१२—रुचि

कोई काम हो उसदी तरह पर कभी नहीं होगा जब तक उस काम में रुचि न हो। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र ने कहा भी है—

बिना श्रद्धा अर्थात् रुचि के जप, तप, दान, हवन आदि जो किया जाता है, सब व्यर्थ है—करना न करना दोनों एक-सा है; न परलोक में उसका कुछ फल मिलता है, न इसी लोक में उस काम की कोई तारीफ करता है। शास्त्रवालों ने विधिपूर्वक या विधिवत् पर बड़ा जोर दिया है। सच पूछो तो रुचि या श्रद्धा से किसी काम का करना ही विधि है क्योंकि विधि तभी हो सकती है जब मन में हमारे उस काम की ओर रुचि है। ध्यान जमा कर देखिये तो मनुष्य जन्मते ही रुचि के दखल देने लगता है मानो रुचि उसकी दासी या जर खरीद लौंडी हो, बच्चे को माँ के दूध के एवज गाय या बकरी का दूध शीशी या रुई के फाहे में दिया जाता है तो वह उसको ऐसी रुचि से नहीं पीता, जैसा माँ का दूध। ऐसा ही माँ की गोद के बदले उसे पालने या चारपाई पर सुला दो तो कदाचित दस में दो एक ऐसे होंगे जिनको बिना रोये-गाये खुशी से उस पर लेटे रहना रुचेगा। फिर ज्यों-ज्यों उमर में वह बढ़ता जाता है, अपने हर एक काम खाना, पीना, सोना, ओढ़ना, पहिनना, खेल-कूद, पढ़ना-लिखना आदि में रुचि को जगह देता जाता है।

रुचि ही के जुदे-जुदे प्रकारान्तर या उनकी बारीकियाँ फैशन के नाम से चल पड़े हैं इस नई सभ्यता के जमाने में जिसकी हद से ज्यादः आन-बान हो रही है। फ्रांस और इंगलैंड सरीखे मालदार मुल्क देशों में जिनकी यहाँ तक उन्नति है कि सुनते हैं, इंगलैंड में

तलवार खींचे लड़ाई के मैदान में घूमता हुआ यह राजा शत्रु की सेना से यम के समान देख पड़ा। यहाँ किस बात में यम के समान यह साधारण धर्म नहीं कहा गया इससे यह भी लुप्तोपमा है, इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं।

पौरं सुतीयतिजनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचंचुः।
नारीयते समरसीम्निकृपाणपाणेरालोक्यतस्यचरितानि सपत्नसेना।
अराति विक्रमालोकविकस्वर विलोचनः।
कृपाणोदग्र दोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति।
स्वप्नेपि समरेषुत्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभाव प्रभवंकान्तं स्वाधीनपतिका यथा॥
सेयंममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिकादृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचन गोचरङ्गता।
ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्रीदिगलंकृता॥

इन श्लोकों में ऊपर कही भाँति-भाँति की उपमा पाई जाती है, रसिक-जन जिन्हें संस्कृत से परिचय है, जान लेंगे। केवल भाषा जाननेवालों को इस लेख के पढ़ने में ऊब और अरुचि होगी इससे उनसे प्रार्थना है कि क्षमा करें और यदि मन लगा के पढ़ेंगे तो निरख सकेंगे कि हमारी आर्य-भाषा और दूसरी-दूसरी भाषाओं में क्या अन्तर है। निश्चय जानिये उर्दू-फारसी के शायरों को तथा अँगरेजी भाषा के कवियों के ख्याल में ऐसी अद्भुत अनोखी चातुरी कभी नहीं आई। यह पथ ही निराला है, ऐसी किसी को सूझी ही नहीं।

जुलाई १८८६

कोई कहता है, हम तो सदा ताजा पानी पीते हैं और इसके सैकड़ों फायदा बतलाता है। दूसरे कहते हैं हम तो जाड़े मे भी ठंढा पानी पीते हैं और गरमियों में तो बिना बर्फ प्यास बुझती ही नहीं। इतने मे एक अँगरेजी पढ़े वहाँ बैठे थे, बोले—आपको मालूम नहीं, कितने निहायत बारीक कीड़े पानी म रहते हैं। इसलिये इसे छान लेना बहुत जरूरी है। लिखा भी है—

"वस्त्रपूतं पिवेज्जलम" ।

मैने तो एक फिलटर खरीदा है, उसी मे छान बिल्लौरी ग्लास मे पानी पीता हूँ। बर्फ के साथ शीशे के ग्लास में पानी रख पीने मे बड़ा मजा मिलता है। इतने में एक चौथे साहब बोल उठे—हमको ये सब खटराग मालूम होता है। यहाँ तो खरा खेल फरुखाबादी पसन्द आता है। प्यास ने सताया तो दो आने फेंक दिये, सोडावाटर का बोतल मुँह मे लगाय, घट्ट-घट्ट उतार गये, कलेजा तर हो गया। इतने में एक पाँचवे साहब जो वहाँ मौजूद थे, कहने लगे—हे भगवन्! धर्म के तुम्हीं अब रक्षक हो। न जानिये कैसा समय आया है कि अँगरेजी पढ़-पढ़ लोग भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने तो कैसे ही प्यास लगा हो बिना चरणोदक मिलाये जल कभी नहीं पीते।

अब सोने को लीजिये। पसेरियो खटमल से लदी हुई टूटी खाट से ले उमदा से उमदा पलंग, ईजी-चेयर और कौच तक न जानिये कितने खटराग रचे गये हैं। सो सब इस रुचि ही के भाँति-भाँति के ईजाद हैं। इतने पर भी जब नींद का झोंका आता है तब यह रुचि यहाँ तक बेहया बन जाती है कि कंकड़ पर भी सोइये तो मखमली कोच का मजा मिलता है।

"निद्रातुराणां न च भूमिशैया" ।

ऐसे भी जिंदा सोनेवाले मनहूस पाये जाते हैं कि चलते-चलते सोते हैं, खाते खाते-सोते हैं, बातचीत करने मे एक बात मुँह से

अमीर घरानों की लेडियों के लिये दिन में तीन बार पेरिस से उनके पोशाक आदि वेश-भूषा का नमूना आया करता है। वैसा ही हम लोग अपने खाने-पीने में रुचि की बारीकियों को बेहद बढ़ाये हुये हैं। कोई कहते हैं, हम नहीं जानते लोगों को रोटी खाना कैसे पसन्द आता है, हमको तो दोनों जून ताजी-ताजी लुचुई और वेढनी मिलती जाय तो कभी कच्ची रसोई का नाम न लें। दूसरे कहते हैं, तुम्हारी भी क्या ही रुचि है! लुचुई सी सकील चीज तुम्हें कैसे रुचती है; अजी कहीं बिना कच्ची रसोई खाये जी भरता है। हमारे हिन्दुस्तान में कच्ची रसोई का तरीका ऐसा बढ़िया रक्खा गया है कि अगर तकल्लुफ को मौका दिया जाय तो हकीकत में रसोई रसायन हो जाती है। एक तीसरे बोल उठे, यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। पर मेरी राय तो यह है कि खाना मुसलमान बहुत अच्छा पकाते हैं, खुसूसन गोश्त की किस्में। इस पर कोई कठीवन्द वहाँ पर बैठे थे, बोल उठे—हरे-हरे, तुम्हारी रुचि कैसी है, हम नहीं कह सकते। हमको तो मास-भोजन का नाम सुन मिचलाई आने लगती है। आपने हमारे गोपालमन्दिर को खुशबूदार बसौंधी, मोहनथाल और दूसरे-दूसरे छप्पन प्रकार के भोग का महाप्रसाद मालूम होता है कभी आँख से भी नहीं देखा, नहीं तो मुसलमानों के भोजन को कभी न सराहते।

ऐसा ही पेय वस्तु में भी रुचि अपनी टाँग अड़ाती है। पीना हम उसे कहेंगे जो बिना दाँतों की सहायता के केवल जीभ और तालू हो हलक के भीतर जाता है; परन्तु रस के ज्ञान में रसना अर्थात् जीभ का अधिक सम्बन्ध है तो वहाँ रुचि का उलाहना ला जाती है। पेय पदार्थों में सब से पहले पानी है जिसको वैद्यक वाले यों कहते हैं—शरत् और वसन्त ऋतु को छोड़ और महीनों में नदी का पानी पीने योग्य है।

"पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते च पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते च नादेयम्" ॥

१३—लौ लगी रहे

लौ लगी रहे तो कठिन से कठिन और दुष्कर से दुष्कर काम सहज से सहज और सुकर से सुकर हैं, दुर्लभ सुलभ, असाध्य सुसाध्य हैं। यहाँ तक कि राई का पर्वत और पर्वत का राई हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, पर जो लौ लगी रहे। किन्तु लौ का लगना ही तो कठिन है। सच्ची लौ लगे तो संसार के क्षुद्र पदार्थों की प्राप्ति तो कुछ हई नहीं, वरन, इन्द्रियातीत जो देवदूत और फरिश्तों को नहीं मिला, वह अनायास मिल सकता है। सच्ची लौ लगी तो जिसमें लौ लग जाती है वह जल, थल, जड़, चेतन, आकाश, पाताल सब ठौर सबों में वही-वही सूझता है। प्रहलाद और नृसिंह का इतिहास इसका पूरा उदाहरण है। जिसको जिसमें लौ लगती है, उसको सिवा उस पदार्थ के और सब फीका मालूम होता है, उसे रस केवल उसी में मिलता है। विद्यार्थी को विद्या में लौ लगी तो एक-एक क्षण भी व्यर्थ बीतते उसे बड़ा अकरास गुजरता है। इसी से कहा है—"किं क्षणस्य कुतो विद्या।" कृपण को धन जोड़ने में लव लगी तो एक फूटी झंझी भी खर्च करते या किसी को देते बहुत अखरता है—

> "क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
> किं क्षणस्य कुतो विद्या किं कणस्य कुतो धनम्॥"

प्रेमी को अपने प्रेमपात्र में लौ लगी तो वह कामी आशिक तन मन-धन फजीहत और हानि सहता, यहाँ तक कि सौदाई दीवाना बन जाता है। वैरागी का जामा पहिने हुये लौ लगने के नशे में चूर-चूर कभी तो लाज त्याग के जीवन तक से हाथ धो बैठता है। नीचे के श्लोकों में लौ लगने का बहुत अच्छा चित्र खींचा गया है—

निकली तो दूसरे में अन्तर्ध्यान हो गये।

अब पहनावे को लीजिये। लोग कहते हैं, यहाँ के लोग भद्दे हैं, फैशन नहीं जानते। पर यहाँ ग्रन्थ के ग्रन्थ नख-सिख सोलहो सिंगार के ऊपर लिख दिये हैं। यहाँ के अनगिनत किस्म के पोशाक और आभूषण जुदी रुचि के अनुकूल गिनने लगें तो घड़ी दो घड़ी न चाहिये, वरन् दिन का दिन समाप्त हो जाय। तो अब देर तक पढ़ने वालों को इस रुचि के भँवरजाल मे फँसाये रखना और किसी दूसरे लेख के पढ़ने से वंचित रखना है, इसलिये इस सियापे को अब बन्द कर छोड़ते हैं। पढ़नेवालों की रुचि के अनुकूल फिर कभी निकालेंगे।

नवम्बर १९००

के समान भोले और सीधे हैं।"

प्राचीन समय मे इस तरह के सरल-चित्त प्रहलाद, अम्बरीष, शबरी, सुदामा आदि कितने अनन्य भक्त हो गये हैं जो अपने प्रभु और सेव्य की सेवा में सदा निरत और लौलीन रहे। इस हाल के समय में मीरा, नरसी, कबीर, दादू, नानक, सूर, और तुलसी प्रभृति अनेक महात्मा ऐसे हो गये जिनके हृदय का कपाट खुला हुआ था और जिनको परमेश्वर का साक्षात्कार हो गया था, जो भक्ति रसामृत के अगाध सिन्धु मे डूबे हुए निर्वाणपद मुक्ति को भी लात मारते थे। इन सबों की ऐसी दृढ लौ लग गई थी कि उन्हें सारा संसार अपने सेव्य प्रभुमय था और सिवाय उस सर्वव्यापी के और कुछ था ही नहीं; जिनके समभाव में सब एक थे, छोटा-बड़ा ऊँच-नीच कोई न था। जिनके कहे वाक्य या पदों मे इतना असर है कि उन अक्षरों के कान कहे वाक्य या पदों मे इतना असर है कि उन अक्षरों के कान में पड़ते ही जी पिघल उठता है, तो कैसे कहें कि ये महात्मा साधारण व्यक्ति थे? उपास्य और उपासक मे क्या सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध को जोड़ देनेवाली कौन-सी ऐसी डोर है जो दोनों को ऐसी दृढ़ता के साथ मिलाये हुये है? वह डोर यही लौ का लग जाना है। उसी को भक्ति, अनुराग, प्रेम, लगन, सख्य, सौहार्द, आत्मनिवेदन आदि जुदे-जुदे नामों से कहते हैं। फिर यह डोर वैसी नहीं है जिसमें गाँठ पड़ सके या उसके टूट जाने की सम्भावना हो। इसका कुछ पैंड़ा ही न्यारा है। प्रेम रज्जु के बन्धन का ढङ्ग ही निराला है।

"बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जु कृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजबद्धः" ॥

बन्धन बहुत तरह के हैं पर प्रेम की डोर मे बँध जाना कुछ और ही है; भँवरा काठ के छेदने में निपुण है सही, पर पंकज के प्रेम में मग्न हो उसके मुकुलित हो जाने पर रात भर उसी में बँधा पड़ा रहता

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालिमृणालैरिति रुदति दिवानिशं बाला॥"
"तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान् विमुक्तवती।
दुर्लभमीदृशमङ्गमत्वा न वै तामजहु॥"

सच है, वियोग लगन की ऐसी ही कसौटी है। कोई किसी प्रेमपात्री का सदेशा किसी से कहता है—तुम्हारे वियोग से विधुर फिर मिलने की आशा न समझ जल्द उसने प्राण छोड़ दिये। किन्तु यह विचार कि ऐसे कोमल अङ्ग हमको अपने रहने के लिये कहाँ मिलेंगे, इसलिये प्राणों ने उसे न छोड़ा। एक दूसरा उदाहरण सच्ची लगन का यह भी है—

"डर न मरन विधि विनय यह, भूत मिलैं निज वास।
प्रिय हित बापी मुकुर मग, बीजन अँगन-अकास॥"

जो कहीं परस्पर दोनो की लगन लग गई, तव तो एक मन दो तन, उसका कहना ही क्या, जैसा किसी शायर ने कहा है—

"इसलिये तसवीर जाना मैने खिंचवाई नहीं,
एक से जब दो हुये तो लुत्फ यकताई नहीं!"

इत्यादि शृंगार-रस-पूर्ण इसके अनेक उदाहरण हैं, सरस हृदय के लिये इतना दिग्दर्शन मात्र बहुत है।

भक्त को अपने उपास्यदेव मे लौ लगी तो वह अपने को सब भाँति अशरण माने हुये केवल उसी के स्मरण, कीर्तन, सेवन, पाद-वन्दन मे निरन्तर अनुरक्त होने के और कुछ जानता ही नहीं, वह सब ठौर वही अपने उपास्य को व्याप्त मानता है। ऐसे तनमय लौलीन उदारचेता शुद्धचित्त सीधे जी को "तद्विष्णोः परमं पदम्" की प्राप्ति क्या दुष्कर है। सर्वव्यापी परमात्मा जो घट-घट की जानता है उसे सीधा निष्कपट भोला-भाला समझ क्यों न अपनाआवेगा। महात्मा ईसा का भी कथन है—"स्वर्ग का राज्य ऐसों का है जो इन बालकों

सरकार को अपने राज की सीमा बढ़ाने की लौ लगी है ; रूस को हिन्दुस्तान की लौ लगी है। हमारी लौ लगी है कि किसी उदारचित्त वीर पुरुष के मन में आ जाता, हम अपना निज का प्रेस कर लेते, पत्र चिरस्थायी हो जाता ; गुरू जी की लौ लगी है जहाँ तक चेला मूड़ें मुड़ते रहें और पन्थ बढ़ाते जाँय। पादरी साहबों की लौ लगी है कि छल-बल-कल जिस उपाय से बनै, हिन्दुस्तान के लोगों को ईसाई करते रहैं, जिसमे विलायत के बड़े बड़े चेरिटी-फंड को लूटने का सुभीता रहे· हमारी कारगुजारी उन-उन फंड के प्रधान लोगों की निगाह मे जॅचती रहे। ब्रह्मास्मि कहनेवालों को लौ लगी है कि हम निर्वाण पद पा जाँय और जनन-मरण के क्लेश से मुक्त हों। इसलिये कि जब हम ब्रह्म हो गये और वह अजन्मा है तब जनन-मरण फिर कैसा। ब्रह्मास्मि वाले जिनका मनोनाश हवस का बुझा देना मुख्य उद्देश्य है, वे भी इस लौ लगने की डोर से कसे हुये हैं। तब हम लोग जिन्हें हवस एक दम के लिये नहीं छोड़ती और आशापाशशतैर्बद्ध काम-क्रोध-परायण हो रहे हैं उनकी क्या ? अंतर केवल इतना ही है कि जो भले हैं उन्हें भलाई की ओर लौ लगती है, बुरों को बुराई की ओर। आदमी का चोला पाय जिसे किसी म लौ न लगी उसका जन्म ही व्यर्थ है।

सितम्बर १९०१

है और कुछ नहीं कर सकता। यदि दृढ़ और सच्ची लौ लगी है तो इस डोर में गाँठ भी नहीं पड़ती क्योंकि गाँठ तो तभी पड़ सकती है जब लौ लगानेवाले को कहीं दूसरा सहारा हो; जब उसने अपने को अनन्यशरण और अगतिक मान लिया तब उसके लिये सिवाय उपास्य देव के और कौन अगतिक का गति और शरण देने वाला हो सकता है—समस्त दृश्य जगत् चाहे अभी उच्छिन्न हो जाय या इस मर्त्यलोक के कीटानुकीट स्वर्गवासी अमरण देवताओं के ऊपर का दरजा प्राप्त कर ले उपासक के सरल कोमल मुग्ध मन में इसका कुछ भी असर नहीं होता। इस बाह्य जगत् के बनने या बिगड़ने से उसे कोई सरोकार नहीं यदि उसके उपास्य प्रभु का उससे कोई लगाव नहीं।

बड़े-बड़े चक्रवर्ती राज्यों का अधःपात तथा तुच्छातितुच्छ जन-समूहों का सांसारिक वैभव के ऊँचे शिखर पर चढ़ना, बड़े-बड़े राज-नीतिज्ञ जिसपर न जानिये क्या-क्या तूमार बाँध खयाली पुलाव पकाया करते हैं; वे वे घटनायें जिनकी बुनियाद पर मुल्क या कौम का बनना-बिगड़ना आ टिकता है उनसे अपने प्रभु की सेवा-टहल में लौलीन उपासक को कोई प्रयोजन नहीं, जिनका नम्बर हमारे देश में इतना अधिक है और मजहबी जोश इतना बढ़ा है कि इस तालीम के जमाने में कोशिश करने पर भी मुल्की जोश की ओर हमारी झुकावट होती ही नहीं। भक्ति-मार्ग जो अमृत-तुल्य है इस समय हमारे लिए जहर का प्याला हो रहा है। स्वर्ग की सीढ़ी हाथ लगती है, एक ही उछाल में इन्द्र के आधे आसन पर जा विराजोगे—इस अदृष्टवाद के बहाने इनसे जो चाहो सो करा लो, जो चाहो सो लै लो, कभी इनकार न करेंगे। कोई मुल्की मामिले जिसमें मजहब या परोक्ष का दखल न हो, कभी उसमें ये प्रवृत्त न होंगे।

अस्तु, लौ लगी रहे—उपकारी को परोपकार की लौ लगी है, खल को दूसरों की बुराई ढूँढ़ने और पीड़ा पहुँचाने की लौ लगी है;

पढ़ाने-लिखाने से फूलती-फलती नहीं। मकान तंग और वायु-संचार-वंचित हो तो उसमें रहनेवाले सदा आसूदा और प्रसन्न रह फूलते-फलते हैं। ऐसी ही समझ ने प्लेग को देश में टिक जाने के लिये सहायता दी है। गन्दे और तंग मकान में कबूतरों की ढाबली की भाँति सिकुड़-सिकुड़ाय के रहेंगे, पीले आम से जर्द पड़ गये बला से, फूलते-फलते तो जायँगे। किससे कहें? इन गर्दखोरों के फूलने-फलने से क्या फायदा?

मारवाड़ी और दिल्ली आगरा के खत्रियों के नाम में बहुधा मल लगा रहता है। जिनके नाम में मल है तो उनके काम में कहाँ तक मल न होगा? सम्पूर्ण अभिधानावली, बड़ी-बड़ी लुगत और डिक्शेनरियों को छान डालो, गट्टूमल मिट्टूमल कहीं न पाओगे। कोई-कोई जिनमें तरहदारी की बू आगई है, अपने लड़कों का नाम काफियाबन्दी के साथ रखते हैं, जैसा छुन्नू, मुन्नू, साधो, माधो, सोहन, मोहन, रतन, जतन, सद्दू, मद्दू, सोंधू, भोंदू और लड़कियों का रम्मो, सम्मो, छन्नो मुन्नो, दुल्लो, मुल्लो इत्यादि। पुराने ढर्रे को छोड़ कोई बात निकालना हमने सीखा ही नहीं तब नामकरण में नया ढर्रा कहाँ से लावें? चरनदास रामदास, गनेसदास आदि बहुधा एक ही नाम के एक मुहल्ले में बीसों पाये जाते हैं। न जानिये क्यों हमको इन नामों पर ओकलाई आती है। उसमें भी कुछ फर्क नहीं, नीच जाति तेली-भुँजवा जो नाम रक्खेंगे वही ऊँच जाति वाले ब्राह्मण-क्षत्री भी। पुरुषों के नाम में महादेव, नारायण, राम, और स्त्रियों में गंगा, यमुना, पार्वती, लछमी, तुलसा। छोटे से छोटे शहर में एक-एक नाम के हजारों पाये जाते हैं। वही बंग-देशियों में स्त्रियों के नाम कैसे सरस और मनोज्ञ रक्खे जाते हैं, जैसा कामिनी, निस्तारिणी विश्व-विमोहनी, कादम्बिनी, मृणालिनी, सरोजनी कुमुदनी, नलिनी, चौगंदवासिनी, सुकेशी, उर्वशी, स्वर्णमयी इत्यादि। हम लोगों में जुग्गो, पग्गो, भग्गो, बतस्सो इत्यादि। फिर गृहस्थिन

१४—नाम में नई कल्पना

गाजीदीन, मसुरियादीन, गंगादीन, दुर्गादीन, सीतलादीन, मातादीन, भगवानदीन आदि दीनवाले नामों की हीन दशा पर हमें भी एक नई कल्पना सूझती है 'अक्लि अजीरन दीन'। नाम कैसे होने चाहिये सो पहिले कहीं पर हम लिख चुके हैं। आज इस विषय को प्रसंग-प्राप्त देख पिष्ट पेषण की भाँति फिर इस पर कुछ कहा चाहते हैं।

नामकरण भी देश या जाति की तरक्की की कसौटी है, जिस जाति में तरक्की रहती है उस जाति में नाम भी उतने ही शिष्ट-संप्रदाय के रक्खे जाते हैं। हम लोग जैसी और बातों में पीछे हटे हैं वैसे ही नाम धराने में भी। नाम के सुनते ही किसी घराने या जाति के बुद्धि-वैभव की पूरी परख हो जाती है। बंगदेशी भारत के और-और प्रान्तवालों की अपेक्षा कहाँ तक आगे बढ़े हैं और कितना अधिक बुद्धि का विस्तार इनमें है, यह उनके कर्ण रसायन कोमल पदावली-संपुटित नामों ही से सूचित होता है। वहीं हम लोग कहाँ तक बुद्धि-विस्तार में दरिद्र हो रहे हैं, यह हम लोगों के छुन्ना, मुन्ना, कल्लू, गुदड़ू, घिसरू आदि नामों से प्रगट है, वरन् इसी बुद्धि की दरिद्रता ने हम लोगों में एक खयाल पैदाकर रक्खा है कि घिनौना नाम रखने से बालक चिरजीवी होता है। इसी बुनियाद पर ननकू, मनकू, नरकू, घसिट्टू, गुनगुन, बुलबुन, फटल्लू, सहलू, झोंपत, भोंदू, मोट्टू, तिनकौड़ी, दमड़ी, छदामी आदि अनमोल, कर्णकटु घिनौने नाम रख दिये जाते हैं। जिससे कहें! अक्ल का अजीरन और समझदारी का जौहर तो है। इसी जौहर ने नाम ही की क्या, हमारी न जानिये कितनी बातों को अपनी मुट्ठी में कर रक्खा है, जैसा स्त्रियाँ

हमारी पुरानी भली बात सभी लुप्त हो गईं तब नाम ही की क्या बहुधा ये दास और दीन नामवाले नाक फुलाय-फुलाय, कहीं नख से सिख तक भर में जिसमे हिन्दुस्तानी होने की वासना भी न पाई जाय, इँगलीसाइज्ड हो सभ्यता के सिरमौर बनते हैं, पर उनके नाम से प्रगट हो जाता है कि जिस कुल को उन्होंने अपने जन्म-ग्रहण से कदर्थ कर डाला उस घराने में सभ्यता का कहाँ तक प्रकाश था। सच है—

"मूर्ख पुत्रस्तु पण्डित तृणवन्मन्यते जगत्" इत्यादि नाम के सम्बन्ध में बड़े से बड़ा आल्हा गाने पर भी न चुकेगा।

अक्टूबर १९०९

कुलवन्ती और वेश्याओं के नाम मे कोई अन्तर नहीं रहता। बनारस में जानकी, सरस्वती, लक्ष्मी, कमला आदि नाम वेश्याओं के हैं।

मुसलमानों को हम अपने से हेठा समझते हैं, पर नाम धराने मे वे हमसे कितना अच्छे हैं। फातिमा, आयशा, जैनब, मरियम आदि देवियों के नाम वेश्याओं के न पाओगे। बंगदेशियों की भाँति चन्द्र-भामा, विलासिनी, कामिनी, मोहनी, उन्मादिनी, स्वर्णलता, मालती, कामधुरा, वसन्तसेना, पिकबैनी, मेनका, तिलोत्तमा आदि रक्खे जाँय ता कौन-सी हानि, पर गृहस्थ और भले मानुषों को जब इसका ख्याल नहीं तो वेश्याओं को क्यों हो? कितने मुखन्नस नाम न जानिये किस उसूल पर रक्खे जाते हैं, न नर न मादा, जैसे राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशकर इत्यादि। इस तरह के नामवालों को क्या समझे? स्त्री या पुरुष दोनों एक साथ हो नहीं सकते। कितने अपने नाम मे आधे हिन्दू हैं, आधे मुसलमान जैसे रामगुलाम, रामबख्श, कुँवरबहादुर। कितने जन्मे तो हिन्दू के घर पर नाम से मुसलमान ही रहे, जैसे राय-बहादुर, अमीर बहादुर, नवाब बहादुर, बख्तबहादुर। हमारे कायस्थ महाशयों में इस तरह के यवन-सम्पर्क-दूषित नाम बहुत मिलते हैं।

भक्ति की भावना ने भी हम लोगों के नामों की खूब ही खाक उड़ाई है। अपने इष्ट-देव के नाम के अन्त में दीन या दास का पद लगा दिया जाता है। न जानिये किस जून कैसी सरस्वती मुख से निकल पड़ती है। कहते-कहते अन्त मे दीन और दास हो हा तो गये। काम मे दास तो नाम मे क्यो न हों? महेन्द्र, उपेन्द्र, सुरेन्द्र, ब्रजेन्द्र, नरेन्द्र आदि प्रभुताशाली नाम क्यों रखाये जाँय? दासत्व तो नस-नस में समाना है। मनु ने दासान्त नाम शूद्र और हीन जाति के लिये कहा है। चारुदत्त, विष्णुमित्र, भूरिश्रवा, यज्ञदत्त, सुमति, सत्यसेन, काम-पाल नाम तो अब सपने के खयाल हो गये। अब तो—

"धोबी के घर धरमदास हैं बाम्हन पूत मदारी।"

में बेशक तरद्दुद आ पड़ता है जो हर तरह पर बलन्द समझे गये हैं अकिल में बलन्द, शाइस्तगी और सभ्यता में बलन्द, ताकत में बलन्द इत्तिफाक और एका में बलन्द, तबियतदारी में फैशन की छिलावट मे, ऊँची ईमानदारी में बलन्द, तब हौसिला भी उनका बलन्द होना ही चाहिये। जब तक छोटे हाकिम जंट से लेफटिनेण्ट न हों, तृष्णा का अन्त होता ही नहीं। हम लोग रायबहादुर, सी० एस० आई० या राजा कर दिये गये, हौसिला पूरा हो गया। विलाइत के शाही खान-दानवाले जो लार्ड या अर्ल कहलाते हैं उनके ऊँचे हौसिले का अन्त तब तक नहीं होता जब तक प्राइम मिनिस्टर, वजीर-आजम या कुल सियाह-सुफैद के मालिक महरानी के प्रतिनिधि हिन्दुस्तान के गवर्नर-जेनरल न कर दिये जॉय। हिन्दुस्तानी फौजी अफसर फौज में सौ-सवा-सौ की कोई नौकरी पा जाने ही से सन्तुष्ट हैं, उनका हौसिला अपनी बलन्दी के छोर को पहुँच जाता है। वही विलाइती फौज के अफसर जब तक कमेंडर-इन-चीफ न हों, उनका हौसिला पूरा नहीं होता।

हमारे देश के रुपये वालों के हौसिले का अन्त इतने ही मे है कि घर बैठे पॉच आना चार पाई का ब्याज मिलता रहे, डेउढ़ी के बाहर पॉव न रखना पड़े। किसी बड़े कारखाने मे रुपया लगा देने से परता फैलाने पर ब्याज का घाटा तो सबके पहले है, उपरान्त काम न चला तो पूँजी से भी हाथ धोना पड़ेगा। विलाइत वाले एक लाख की पूँजी से जब तक दस लाख का कोई काम न करें, उनका हौसिला बुझता ही नहीं, इँगलैंड, अमरीका, हिन्दुस्तान, चीन सब को एक किये हैं। किसी एक काम मे कुछ थोड़ा-सा नुकसान सहना पड़ा तो दूसरे में एक का बीस गुना कर माला-माल हो गये। कम हिम्मती की निशानी ब्याज का घाटा हमारे समान विलायतवाले भी देखते तो इंगलैंड आज दिन तरक्की के जिस ओर-छोर को पहुँचा हुआ है, कभी न पहुँचता। लक्ष्मी सब ओर से खिमिट-खिमिट जो विलाइत को अपनी वासभूमि

१५—बड़ों के बड़े हौसिले

हमारे यहाँ के ग्रन्थकारों ने तृष्णा को पिशाची कहा है और निश्चय कर गये हैं कि इसका अन्त कभी होता ही नहीं, वरन् इसका अन्त होना ही सुख की सीमा है। हम यह दिखाया चाहते हैं कि यह उनकी भूल है, सुख की सीमा चाहे हो या न हो, पर तृष्णा का क्षय हो जाता है। रहा इतना कि जो बेचारे हकीर छोटे लोग हैं उनकी तृष्णा भी बड़ी-छोटी इंच आध इंच की लम्बी-चौडी बात की बात मे बुझ जा सकती है, किन्तु जो बड़े लोग कहलाते हैं उनमे बड़प्पन के अनुसार सभी बात बड़ी होती है।

"सर्वं हि महतां महत्।"

तब हौसिले के नाम से तृष्णा भी उनकी बहुत बड़ी होनी चाहिये जो थोड़े में कभी बुझती ही नहीं। आसमान के सातवें तह लों बलन्द हौसिले जहाँ परिन्द भी पर नहीं मार सकते, थोड़े में कब बुझ सकते हैं? इसी से लोगों ने सिद्धान्त कर लिया है कि तृष्णा का क्षय हई नहीं। किन्तु यह सिद्धान्त उनका क्या भूल से खाली नहीं है? विचार की कसौटी पर कसने से चित्त इसे स्वीकार नहीं करता कि तृष्णा का अन्त हई नहीं। हाँ बड़े और छोटे लोगों की तृष्णा मे फरक अलबत्ता होता है।

हम हिन्दुस्तानियों की छोटी बुद्धि, छोटी समझ, छोटी बातचित, छोटी हैसियत। तब हमारी तृष्णा भी नितान्त छोटी हुआ चाहे। मुश्किल दस बीस की नौकरी पा गये अपने को कृतकृत्य मान बैठे; और जो कहीं सौ-पचास के हेड-क्लर्क, इंस्पेक्टर, तहसीलदार, डिप्टी या सदरअमीन कर दिये गये तो फिर क्या भाग्यवानी के ओर छोर को पहुँच गये, सुख की सीमा के पार हो गये। यों, उनकी तृष्णा [illegible]

दिखाय ढेला मारेंगे और इतना पानी वरसैंगे कि शस्यध्वंस में कसर न पड़े और एक दाना भी तुम्हारे घर में न जाने पावे, राजा की नीयत और प्रजा के पुण्य का फल उजागर कर देंगे इत्यादि ।

जनवरी १८६४

कर रही हैं काहे को कभी करती ? वही हमारे यहाँ रोजगारियों के उत्साह का अन्त केवल इतने ही से है कि कलकत्ते का माल बंबई पहुँचा दें और बंबई का दिल्ली-लाहौर मे ढोय के रख दें। इस हम्माली के काम मे रुपये पीछे कहीं एक पाई मुनाफा हो गया, निहाल हो गये—रोजगार की चरम सीमा डॉक गये।

हमारे देशों के सुशिक्षितों के उत्साह का अन्त इसी मे है कि वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान मे कहीं पर किसी अंश में हिन्दुस्तानी न मालूम हों। क्या करैं ? लाचारी है, चमड़ा गोरा नहीं कर सकते। कोइला से किरानियों के हौसिलों का खातिमा साहब लोगों की लिस्ट में नाम दर्ज हो जाने से है। पादरी साहब के हौसिला का अन्त तब हो सकता है कि दुनिया के सब लोग नार्थपोल से सौथपोल तक ईसा को अपना मुक्तिदाता समझने लगें। हमारे ब्राह्मणों की तृष्णा का अन्त इसी मे है कि नित्य उन्हें लड्डू और जलेबी पेट भर छकने को मिला करै और सबेरे से साँझ तक आध सेर सुँघनी सूँघते हुये साँड़ के समान डकारते हुये बैठे रहैं।

"पराञ्च दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः"।

रेली ब्रदर्स के हौसिले का अन्त तब होगा कि हिन्दुस्तान मे एक दाना भी गेहूँ का न रह जाय, सबका सब जहाजों मे लाद विलायत तथा और मुल्कों मे पहुँचाय दे। सैयद साहब के हौसिले का छोर तब होगा कि बीबी उर्दू कुल हिन्दुस्तान की अदालतों में अपना पंजा फैला दे और जितने ऊँचे ओहदे हैं सब उनके कौमवालों के लिये बतौर अमानत के रख दिये जाँय। दुर्भिक्ष-पीड़ित हमारे किसानों के उत्साह का अन्त और उनके सुख की सीमा इसी मे है कि सर्कार की बाकी न रहने पावे, पेटभर कदन्न खाने को मिलता रहे, किन्तु मेघ-राज ने प्रण कर रक्खा है कि हम सो न होने देंगे, जब तुम दिन-रात दाँतों पसीने की मेहनत कर खेती तैयार करोगे तब हम तुम्हें गुड़

परस्पर की स्पर्द्धा में आय बाहरी प्रतिष्ठा बनाये रखने को इतना अपने वित्त के बाहर कर गुजरे हैं कि-भीतर ही भीतर कॉखते हुये कई वर्ष के लिये उनकी पोल न दूर होगी। ऐसाही हमारी कौम के सरगना, अग्रसर या मुखियाओं के कपटपूर्ण कापटिक आचरणों में ढोल का पोल देख मन में यही आता है कि जो घर के ढहानेवाले चौपटचरन हैं वे किस भरोसे पर बाहर कौम के सुधारक और संशोधक तथा रिफार्मर बनने का दावा बाँधते हैं। किसी प्रमाणिक लेखक ने ऐसा ही कहा भी है—

Breakers at home cannot be the makers of nations.

तात्पर्य यह कि जो अपने भीतरी चाल-चलन मे निपट मैले हैं, जिनमें अनेक कुत्सित कर्म देख घिन पैदा होती है, वे इन दिनों सभ्यता की नाक बने हुये देश के सुधार का बीड़ा उठाये हैं। अवश्य ऐसों की करतूत सोपान के सहारे समाज-उन्नति-शैल के परमोन्नत-शिखर पर चढ़ भारत-सन्तानों को जगत् उजागर कर दिखावेगी और देश का वह कल्याण होगा जो किसी दूसरी तरह असम्भव था। घर भूँजी भाँग नहीं, बाहर कागज का घोड़ा दौड़ाते लाखों का कारवार फैलाये हुये बड़े मातवर और प्रमाणिक सेठ जी या शाहजी जगत् भर का जगड़्वाल अपने ऊपर ओढ़े मिती पर मिती बराबर खाते हुये ढुलके चले जा रहे हैं; दैव-इच्छा से एक दिन पहिया रुक गई, मुँह बाय टाट उलट बैठ रहे। हुण्डीवालों की नालिशें दागने लगीं, माल-असबाब कुर्क हो गया, अदालत का खर्चा भी न तरा। चाहते थे कि हुण्डी मे का गया धन आधा ही मिले, कुछ तो वसूल हो, पर वहाँ क्या था जो लेते ढोल मे पोल। पढ़नेवाले कहेंगे, यह महाखल है, औरों की पोल ही खोलते इसका जन्म बीतता है, अपनी ओर नहीं देखता।

१६—ढोल के भीतर पोल

ऊपर की यह कहावत छोटे बालक से ८० वर्ष के बुड्ढों तक में जैसा प्रचलित है वैसा ही इसकी चरितार्थता भी सुस्पष्ट है। और किसी देश या जाति में चाहे इसके उदाहरण न मिलते हों या बहुत कम हों पर भारत तो इस समय इस कहावत का मानो उद्देश्य या लक्ष्य-सा हो रहा है, जहाँ की कोई ऐसी बात नहीं है जिसमें पोल न पाई जाती हो—ऊपरी भड़क, नुमाइशी चटकीलापन देख चित्त चमत्कृत होता है। कभी जी में समाता ही नहीं कि भीतर किसी तरह की न्यूनता या पोल है, पर ज्यों-ज्यों तले तक डूब थहाओ त्यों त्यों ढोल के भीतर पोल निकलती जायगी। दूर न जाय हाल का दिल्ली-दरबार इसका बहुत ही स्पष्ट उदाहरण है। एक-एक छोटे-बड़े राजा महाराजा तअल्लुकेदारों की धूमधाम देखते ही बनती थी, जिनका आडम्बर चमक-दमक और बाहिरी वैभव पर कदाचित् कुबेर भी सकुचाते रहे होंगे। इन्द्र और वरुण भी हार मान बैठे होंगे। लार्ड करजन महोदय के चित्त में भी यही समाया होगा कि निस्सन्देह भारत लक्ष्मी का केन्द्र-भाग है, कितना ही हो यहाँ का धन कभी चुकने वाला नहीं है, जो किसी कदर ठीक भी है। यहाँ की ऐसी कामधेनु धरती है जो अत्यन्त उर्वरा होने से कई करोड़ का धन प्रतिवर्ष उगला करती है? दो वर्ष के लिये चिंउटियाँ-टोअन बन्द हो जाय और यहाँ का धन यहीं रहने पावे, देश का देश सोने-चाँदी से मढ़ जाय। अस्तु, जिस बनावट और चमक-दमक पर चित्त चकराता था उसे तले तक डूब खोजो तो वही ढोल में पोल। इन राजा और तअल्लुकेदारों में न जानिये कितने

खिचड़ी पकाते तीन-तेरह हो गये। ढोल में पोल देख पड़ने लगी। बुढ़ऊ की जो कुछ प्रतिष्ठा और भागवानी थी, सब की पोल खुल गई। दफ्तर में काम करते हैं। लोग समझते हैं, ये तो अमुक महकमे के हेड-क्लर्क कुल स्याह-सुफेद के मालिक हैं, २०० या ३०० रुपये महीने में कमाते हैं। इनकी बड़े आराम और चैन पे कटती है। यहाँ बाबू साहब मे जो ढोल मे पोल है, यह उनका जी ही जानता है। दफ्तर मे १० से ४ तक कुइलड्इवरी मे हैरान-परेशान बात बात मे सर दफ्तर साहब की झिड़की और फटकार की डर, घर मे आय फिर वही पिसौनी। एरियर आटअप करते-करते फुचड़ा निकला जाता है। पेन्शन के दिन भी पूरे न होने पाये, बीच ही में हरि शरणं बोल गये। लोगों का देना निकला, घोड़ा-गाड़ी सब नीलाम हो गई। ढोल में पोल निकल आई। सब लोग समझते हैं, पण्डितजी बड़े विद्वान्, महात्मा और सच्चरित्र हैं। किसी तरह की झौंझट बिना उठाये घर बैठे गद्दी पुजाते हैं। यह कोई क्या जाने, पण्डितजी महाशय के सच्चरित्र में निरी ढोल की पोल है। चेलियों की कटार-सी भौं के कटीले कटाक्ष से बेदाग बचे रहना एक ओर रहा, शिष्य-सेवकों का ताव सम्हालना, उनका मन अपनी मूँठी में किये रहना क्या कम मुहिम है? हम लोग समझते हैं, हमारी प्रताप-शालिनी न्याय-शीला गवर्नमेंट के न्याय-युक्त शासन में शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हैं। प्रजा-मात्र के जानमाल की भरपूर रक्षा है। किसी को किसी पर किसी तरह की जोर-जुलम की कोई शिकायत नहीं है और वास्तव मे ऐसा ही है भी; किन्तु पुलिस का महकमा गवर्नमेंट ने एक ऐसा कायम कर रक्खा है कि जिसमे सब न्याय और इन्साफ की पोल खुलते देर नहीं होती। जिसके संशोधन की बड़े-बड़े कर्मचारी सब सम फिकिर कर रहे हैं, पुलिस कमीशन जुदा ही इसके संशोधन में व्यस्त है, पर कोई कला नहीं लगती; एक छोटा सा कानस्टेबिल भी चाहे तो इन्साफ की

"खलः सर्षप मात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥"

हाँ सच है, पर यहाँ तो बिना ढोल ही सब ओर से निरी पोल है, तब उसे क्या खोलें ? बड़ा भारी कुनबा है । लड़की-लड़के, नाती-पोते, बहू-बेटियों से घर भरा है । बाहर के लोग देखनेवाले यही कह रहे हैं, बुड्ढा भाग्यवान् है । जैसा ही बड़ा कुनबा वैसा ही साहुत और एका कैसा है—

"बाहर लोगवा यों कहैं मियाँ जियैं अरु बरकत है ।
मियाँ की गति मियैं जानैं साँस लेत जी सरकत है ॥"

बुढ़ऊ भी ऊपर से बड़े भाग्यवान्, प्रतिष्ठित और बड़े कुनबे वाले बन संसार मे अपना मुँह उजागर किये हैं, पर भीतर की किचकिच, लड़ाई-झगड़ों के कारण एक क्षण ऐसा नहीं जाता कि चिंता और फिकिर से छुटकारा पावे । भोर से उठ आधी रात लौं झौंझट छोड़ दूसरी बात नहीं ।

"सूरदास की काली कमली चढ़ै न दूजो रंग ।"

बुढ़ऊ हजार चाहते हैं कि सब छोड़ कहीं एकान्त मे बैठ कुछ परमार्थ साधन करें, सब-सब चेष्टा करते हैं, पर कभी इस किच-किच से जान छूट सकती है ? केवल इतना ही नहीं, बड़भागियों में हम भी समझे जाते हैं । इस नशे मे चूर हैं; नाती हुये, पोते हुये, परोते हुये सोने की सीढ़ी चढे, आज इसकी मँगनी है, कल उसका ब्याह है, परसों पोते का मूड़न है, लडकी के लड़का हुआ, रोचना आया, जच्चा साजना पड़ा, नतनी का ब्याह आ लगा, ननिहाली साजना पड़ा । तात्पर्य यह कि सब ओर की झौंझट और नोच-खसोट इस जीर्ण जरद्गव का पुरजे पुरजे किये डालता है सही, पर यह मोहमयी प्रमाद-मदिरा मे उन्मत्त है । एक दिन लम्बी तान मुँह बाय रह गये, घर की सब साहुत और एका रह गया । कुनबे के एक-एक आदमी अलग-अलग डेढ़ चावल की

१७—कर्णामृत तथा कर्णकटु

कितने शब्द या वाक्य ऐसे होते हैं जो कर्ण-कुहर के द्वारा मन में पहुँच एक अद्भुत आनन्द उपजाते हैं। उदासीन और विरक्त के चित्त में भी असर पैदा कर देते हैं। जो कान में पहुँचते ही उदासीन की सब उदासी को सूर्य के उदय में घने अन्धकार की भाँति न जानिये किस खोह में जा छिपा देता है। विरक्त और त्यागी सब वैराग्य और त्याग भूल विषय वासना के लासे में फँस पखेरू-सा फिर इस बड़े पिजड़े संसार मे आ पड़ता है, जहाँ से वह पहले तीव्र वैराग्य पंख के उग आने पर उड़ भागा था। इसी के विरुद्ध कितने ऐसे अरुन्तुद मर्मस्पृक् कर्कश कठोर शब्द होते हैं जो कर्ण-पुट को वेध हृदय-कपाट को सहसा उद्घाटन करते मन में बेकली पैदा कर देते हैं। शान्त-शील मुनि की भी शान्ति में बट्टा लगाते हैं। आग में बारूद पड़ने की भाँति क्रोध एकबारगी भड़का देते हैं। नहूसत पैदा करते हुये होनहार कोई बड़े अमंगल के सूचक हैं।

कर्णामृत जैसा छोटे बालकों की तोतरी बोल, प्रेमपात्र का प्रेमालाप, जिसके आगे कोकिलाओं का कुहूनाद भी फीका मालूम होता है, और भी वर्षा के प्रारम्भ मे चातक की पीहो-पीहो, भोर होते ही पंचम स्वर की लय में वृक्षों पर चिड़ियों की चहचहाहट—सेवक के काम से निहाल और प्रसन्न स्वामी का सेवक की सराहना—पति परदेश गया है साध्वी पतिव्रता तन छीन-मन मलीन बड़े लोगों की लाज से अपने मन के भावों को छिपाती किसी तरह दिन काट रही है। अकस्मात् एक दिन डाकिये ने आय एक पत्री दिया जिसमें प्राणनाथ के दो ही एक दिन आने का शुभ समाचार दिया है, कर्ण-रसायन उन अक्षरों को सुन पति के वियोग में ग्रीष्म के सूर्य के खर तर ताप से तपी लता

ढोल मे पोल निकाल देने को भरपूर काफी हैं। हम समझते थे, एडिटरी का काम बड़ी स्वच्छन्दता का है। इसमे कहीं से किसी तरह की पोल नहीं है, समय से पत्र निकाल चुप हो बैठ रहे।

"न ऊधो के देने न माधो के लेने।"

पर तले तक डूब के जो देखा तो जैसा इसमे ढोल में पोल है वैसा किसी दूसरे काम में नहीं। टटके से टटके ख्याल दिमाग से निकाल चुटीले से चुटीला लेख लिखो कि पढ़नेवाले रीझ तुर्त पत्र का मूल्य भेज दे। पत्र पहुँचा पढ़ कर प्रसन्न भी हुए किन्तु मूल्य के तकाजे का काड रद्दियों में फेक तीन कोने का मुँह बनाय बैठ रहे इत्यादि। विचार कर देखो तो इस मायामयी ममता के मोहजाल मे फसानेवाली ईश्वरीय रचना का अद्भुत स्वरूप है जिसका कोई ऐसा अग नहीं है जिसमे कहीं पर कुछ न कुछ पोल नही है, फिर भी वह मायामयी रचना मृग-तृष्णा का पथिक बनाये हम सबों को अपने जाल में फसाये हुये है। सच है—

"ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति"॥

और सच तो यों है कि इस जाल से वे ही निकल सकते हैं जिसे वही अपनी दया-दृष्टि के द्वारा बाहर खींच अपना कर ले, नहीं तो संसार-महोदधि में गोते खाते पड़े रहो।

जनवरी १६०२

तन में होश न रहा। दस सभ्य मनुष्य बैठे हैं, किसी गुरुतर विषय पर कथोपकथन करते हुए अपना मन रमा रहे हैं। अकस्मात् हंसों में कौआ-सा कोई कुन्देनातराश अकिल का कोता पर दौलत पास होने से 'पंडित मन्ये' वहाँ पहुँच गया और ऐसे-ऐसे अरन्तुद कर्ण-कटु शब्द अपनी बोलचाल में कह डाला कि लोग उद्विग्न हो गये, रसाभास हो गया, सब लोग खिन्न-चित्त हो उठ खड़े हुये इत्यादि बहुत-से और उदाहरण सोचने से मिल सकते हैं।

पुराने इतिहासों को पढ़ने से प्रगट है कि यह कर्ण कटु अनेक सर्वनाशकारी घटनाओं का कारण हुआ है। "अन्धे के अन्धे होते हैं" द्रौपदी का दुर्योधन के प्रति यही कर्ण कटु महाभारत की जड़ हुआ। लक्ष्मण ने जब रामचन्द्र के पास सूने वन में जानकी को अकेली छोड़ जाने से इनकार किया तब जानकी ने कैसे-कैसे अरन्तुद वाक्य कहे। अन्त में उसका कैसा कुत्सित परिणाम हुआ कि रावण जानकी को शून्य वन में अकेला पाय हर ले गया इत्यादि और भी अनेक उदाहरण इसके मिल सकते हैं।

जून १९०९

सी एकबारगी लहलही हो उठी। कान के बहरे आँख के अन्धे टूटी खाट पर करवट भरते बुढ़ऊ जिन्दगी के दिन ठेल रहे हैं। किसी ने आके कहा, लाला तुम्हारे परपोता हुआ है। अमीरस-सा यह सुन्दर शब्द सुनते ही बुढ़ऊ उठ बैठे, मगन हो मन उनका मोर-सा नाचने लगा। योगियो की कठिन तपस्या-समान दिन-रात मेहनत कर इमतिहान दे आये है, पर एक परचा जरा बिगड़ गया है, हरदम जी खटके में रहता है। किसी दोस्त ने आके कहा—हम देख आये हैं, पास हुओं की लिस्ट मे तुम्हारा नाम सब के सिरे पर है, सुनते ही इसके मन की कुम्हलानी कली खिल उठी। हजारों आदमी की भीड ठटाठट्ठ जमा है, लम्बे-चौड़े हाल मे कहीं तिल भर की जगह खाली नहीं है, सब लोग इसी इन्तजारी मे हैं कि वक्ता-वागीश कब अपनी मेघगंभीर या गिरा मे मधुर कोमल समुज्वल शब्दो से मोती की लरी सा पिरोयेंगे। लोगों की उत्कण्ठा जान वक्ता वागीश ने अपना व्याख्यान आरभ किया। चारों ओर चियर्स की मधुर ध्वनि से हाल गूँज उठा। सुनने वालों के मन मे आनन्द की ऊर्मि उठने लगी, जैसा पूर्णचन्द्र का उदय देख समुद्र सब ओर से लहराने लगता है। वक्ता के एक-एक अक्षर मे शब्द-चातुरी तथा अर्थ-चातुरी का उद्गार जान सब लोग मोहित हो गये।

अब कर्ण-कटु को लीजिये। दो कर्कशा स्त्रियाँ लड रही हैं। दाँत किरते गाली देते दोनों आपस में ऐसा कोसती हैं जिसे सुन कलेजा फटा जाता है, यही जी चाहता है कि दोनों का सिर मुँडवाय मुँह में कारिख पोत अडमन टापू का पाहुन उन्हे करा दे या चुड़ैलों के स्कूल मे तालीम के लिये उन्हे भरती करा दें। बड़े से कुनबे का एक-मात्र पोषक सपूत कुल की पताका किसी काम से कहीं दूर देश गया है। अचानक तार आया, बाबू को प्लेग हो गया। कर्ण-कटु यह बात सुनते ही घर के लोग घबड़ा गये, हाहाकार मच गया, किसी के

को जननी के शरीर में से अपेक्षित सामग्री की सहायता से मनुष्याकार कर अन्त को पृथ्वी पर ले आती है। यह शंका हो सकती है कि गर्भवास और जनन-प्रक्रिया का काल बालक को अनेक कष्ट और वेदनाओं का हेतु होता होगा। पर वास्तव मे ऐसा नहीं है। उसे कष्ट अणु मात्र भी नहीं होता, और यदि होता है तो तभी जब कि प्रकृति अत्याचरित हुई हो। प्रकृति उसको गर्भ से इस प्रकार मुक्त कर देती है जैसे मा सोते हुए बालक को अपनी गोदी से पालने में पौढ़ा देती है। वैद्यक-विद्या के तत्ववेत्ताओं का यह सिद्धान्त है कि यदि जन्मावस्था से प्राणी बराबर प्रकृति के नियमानुसार ही रहे तो मरण भी उसका वैसा ही सुखाला हो जैसा कि जनन हुआ था। प्रकृति उसकी देह को उसी तरह समाप्त कर दे जिस तरह आरम्भ किया था। अर्थात् प्राण का प्रयाण भी वैसाही सुगम हो जैसा प्रवेश था और वे "यातनायें" जो मरण-काल में प्रायः देखी जाती हैं, कभी न हों। किसी को याद नहीं है कि प्राण उसके शरीर मे कब और किस रीति से घँसे और जो प्राकृतिक नियमों का सहज अनुगामी है उसे मरते समय भी यह न मालूम होगा कि उसके घट से गला छुट कर जी निकल रहा है, अर्थात् प्रकृति के लाडिले को मरने मे भी कष्ट नहीं है और इसी प्रकार के मरने को "मौत से मरना" कहते हैं।

"यह बात सर्वथा सत्य है कि जो कुछ शारीरिक कष्ट प्राणी को होता है, केवल प्राकृतिक नियम-विरोध से और ये विरोध कभी-कभी इतने प्रबल और इतने अधिक होते हैं कि प्रकृति की एक नहीं चलने देते और नियत काल के पहले ही प्राणी को उसकी गोदी मे छीन लेते हैं और छीनते समय ऐसा कष्ट अनुभव कराते हैं जिसे मरण-काल की वेदना कहते हैं और जिससे डर कर किसी ने कहा है—

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।

१८–प्रकृति के अनुसार जीवन-मरण

ईश्वर ने प्रकृति के नियम ऐसे उत्तम किये हैं कि उनको लोक में यदि मनुष्य अपने जीवन की गाड़ी बे रोक चलने दे तो सन्देह नहीं उसे, इस संसार को "आधि-व्याधि-पूरित" कहने का कदापि अवसर न मिले, वरन् वह जगत को केवल निरवच्छिन्न सुखों का अखण्ड भंडार ही देखे और बार बार पुष्पदन्त के राग मे राग मिला यही कहे—

"इदं हि ब्रह्माण्डं सकलभुवनाभोगभवनम् ।"

सच है, मनुष्य दुःख भोगने के लिये नहीं उत्पन्न हुआ, किन्तु सृष्टि के विविध दृश्यों मे उस अदृश्य बाजीगर के अद्भुत, अगम्य, और असंख्य कौतुकों को अपने कायिक और मानसिक दोनों नेत्रों से देख कर जो कुछ सुख प्राप्त होता है और वह सुख अमित है, अपार है, अनवधि है, जिसका समझना हो मनुष्य के जीवन की सफलता है, उसकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं रहती ।

परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि यह सुख जो यथार्थ मे प्रकृति की सर्वोत्तम विभूति है, प्रकृति ही के नियमों से प्राप्य है इस निधि पर पहुँचने के लिये सिवाय प्राकृतिक रोड के और कोई सड़क नहीं है । परन्तु सावधानी की आवश्यकता है कि एक गाड़ी फिसल जाय, उलट जाय, गिर जाय और टूट कर नष्ट भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं ।

आप देखते हैं कि जब से पिता का वीर्य बिन्दु माता के उदर के स्थल विशेष मे अधिष्ठित होता है; प्रकृति तभी से अपना कार्य आरम्भ कर देती है । नौ मास के नियत काल में उस बिन्दु

जाती है, उसी तरह मृत्यु भी विना दुन्दुभी बजाये हौले-हौले प्राकृतिक जीवी प्राणी के पास आती है।

वाह! ईश्वर की कैसी कृपा और चतुराई इस जनन-मरण व्यापार में झलकती है! और धन्य हैं वे जो इस कृपा के पात्र हैं।

जनवरी १८८८

प्राकृतिक नियम विरोध जिस मृत्यु का कारण हो उसी को अप्राकृतिक मृत्यु वा अकाल-मृत्यु कहना चाहिये। इस प्रकार की मृत्यु में प्राणी सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों की विजातीय विरुद्ध नियमों से लड़ाई ठाननी पड़ती है, जिसका परिणाम (कभी शीघ्र कभी विलम्ब से) भौतिक शरीर का समाप्त होना है। रोगजनित मृत्यु इस हेतु से अकाल-मृत्यु है।

यह बात याद रखने लायक है कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति जन्म से ही प्राणी पर अपना बल करती है, परन्तु किसी शक्ति-विशेष से प्राणी इस आकर्षण को आक्रमण कर लेता है। यदि प्राणी मे ऐसी शक्ति न हो तो उसका शरीर कदापि न बढ़ सके और न चल फिर सके और पृथ्वी उसे जड़ पदार्थ की भाँति अपनी पीठ पर अवश्य पटक ले, परन्तु प्राणी इस अद्भुत शक्ति के बल से आकर्षण को परास्त करता हुआ बढ़ता चला जाता है। मनुष्य की वर्द्धन-शक्ति की परमावधि ३० वर्ष तक मानी गयी हैं, इसके अनन्तर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और स्थिरता आती है। इस बल-वीर्य-संयुक्त स्थिर दशा में मानुषिक देह फिर लगभग ३० बरस तक बना रहता है। परन्तु इस ३० बरस के उपरान्त अर्थात् जन्म से लगभग ६० वर्ष के अनन्तर वह शक्ति जिसने शरीर को पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से बचाया था, मन्द होने लगती है और नित्य-नित्य ऐसी घटती है कि अनुमानतः ३० ही बरस में मनुष्य के देह को जड़ पदार्थ की तरह पृथ्वी की पीठ पर पटक आप अवसान को प्राप्त हो जाती है। परन्तु कैसे पटकती है? पटकने में दुःख देती है, कष्ट भुगतवाती है? नहीं कदापि नहीं; वरन् धीरे-धीरे (इतना धीरे कि मनुष्य को बिलकुल नहीं मालूम पड़ता) शरीर का सञ्चित भौतिक शक्तियों को घटाती और हटाती जाती है और शरीर बिना अनुभव किये उनका त्याग करता जाता है जैसे निद्रा के आगमन समय में बेमालूम सुखपूर्वक बेसुधी धीरे-धीरे छाती

नई जवानी फलवन्त उर्वरा पृथ्वी का एक बाग है, जिसमें मेवे के उमदा पेड़ न लगाए जायँ तो लम्बी-लम्बी घास आपसे आप उग आती है।

इसी से चतुर सयाने बागवान की तरह अच्छे माँ-बाप अपनी सन्तान की पूरी फिकिर करते हैं। सदुपदेश सद्गुण अनेक विद्या, शिल्प और कला को वृक्ष की भाँति उनमें आरोपण करने की सदा चेष्टा किया करते हैं। बाप-माँ का उद्यम सफल हुआ और लड़का उनका इस चढ़ती उमर में भलाई और अच्छे ढङ्ग की ओर झुक पड़ा तो जीवन पर्यन्त भली ही बात करता जाता है। अनेक विद्या का उपार्जन कर वंश का भूषण हो जन्म भर अपने जन्म-दाता को सुख देता रहता है। बुराई और कुढङ्ग की ओर झुक पडा तो कुल का दूषण हो यावज्जीवन वह अपने माँ-बाप को डहता है। इस चढ़ती उमर में जब मनुष्य की यावत् वस्तु का उपचय होता जाता है, एक विवेक या विचार अलबत्ता पास नहीं फटकने पाता। सच कहो तो विचार को अवकाश उमर के घँसने ही पर मिलता है। गदहपचीसी प्रसिद्ध है। शादी का भी कौल है—

चेहल साल उमरे अज़ीज़त गुज़स्त।
मिज़ाजे तो अज़ हाल तिफ़्ली न गश्त॥

इससे सिद्ध हुआ कि परिपक्व बुद्धि या विचार-शक्ति मनुष्य में तब तक नहीं आती, जब तक इसकी चढ़ती जवानी का समय नहीं बीत गया। यही एक ऐसा भारी दोष है, जिससे नौजवानों में बहुत ने उत्तमोत्तम गुण, उत्साह, अध्यवसाय, दृढ़ता, स्थिरता, साहस, हिम्मत आदि के रहते भी वे निम्रग़ारी, अविचारी और अविवेकी कहलाते हैं। सब भाँति निपाँगुर अपाहिज बूढ़ी डाढ़ीवाले उन्हें छोकड़े, नालिश तिफ्ल और मूर्ख समझ अपने मुकाबिले उनका कुछ भी गौरव नहीं करते, चाहे वे कैसे ही विद्वान् हो गये हों। तो निश्चय

१६—चढ़ती उमर

ईश्वर की सृष्टि में चढती उमर भी क्या ही सुहावनी होती है, जिसकी आमद में क्या स्त्री क्या पुरुष कुरूप से कुरूप भी थोड़े समय के लिये अत्यन्त भले और सुहावने मालूम होने लगते हैं। लिखा भी है—

"प्राप्ते च षोडशे वर्षे सूकरीचाप्सरायते।"

नई जवानी, नये खयाल, नई उमग, नई-नई सजधज, नये हौसले, चढती उमर के उभाड़ मे सब नया ही नया, जर्जरित सड़े-घुने पुराने का कही लेश या छुवाव भी नहीं। इस दशा मे नयों को जो पुरानों की कोई कदर जी मे न रही, तो इसमें अचरज की कौन सी बात हुई। नयों को अपनी ओर अश्रद्धा देख पुराने जो उन्हे अशालीन, धृष्ट और गुस्ताख कह बदनाम करें, तो यह पुरानों की पुरानी अकिल की खूबी है। यद्यपि वे खुद भी अपनी चढ़ती उमर मे ऐसे ही थे। लोहे ताँबे उतर अब बड़े सञीदा और बुजुर्ग बन बैठे, तो अब चढती उमरवालों में नुक्ताचीनी करते सब दोष ही देख झुँझलाते हैं। यह नहीं सोचते कि इस नई उमर के उभाड़ में जो कुछ विनीत भाव नम्रता भलाई की ओर झुकावट और बुराई से घिन बनी रहे, वही गनीमत है, नही तो आदमी की जिन्दगी मे यह वक्त ऐसा नाजुक और अल्हड़पने का होता है कि उसके जोश में जो कुछ निकृष्ट काम आदमी न कर गुजरे, वही उसकी तारीफ है। यह उमर [illegible] सन या बुराई के उगने और बढ़ने की प्ररोह-भूमि [illegible] जोत बो के तैयार किया जाता है, तब उसमें जो [illegible] वह दिन दूना रात चौगुना फनकता हुआ बढता [illegible]

है, जिनकी संख्या बहुत कम पाई जाती है। कोई-कोई ऐसे हैं जो इस असिधारा-व्रत के व्रती पाये जाते हैं। नहीं तो नई जवानी के आरंभ में जैसा एक स्वाभाविक गहन अविवेकान्धकार बुद्धि में छाया रहता है वह ऐसा नहीं है कि जिसे साधारण चिराग की क्या ताकत वरन् बिजली की रोशनी भी हटा सके। इधर तरुणाई की तरल तरङ्ग, उधर जो कहीं खाने-पीने की आशा इस के सिवाय बहुत-सा धन पास हुआ और बेरोक-टोक खुद मुख्तार मालिक उस बड़ी दौलत के हुये तब फिर क्या कहना! 'एक तो तितलौकी दूजे चढ़ी नीम।' ऐसी दशा में उनके दारुण लक्ष्मीमद की चिकित्सा और दर्पदाहज्वर की गरमी का शिशिरोपचार अति कष्ट साध्य है। उनके ऐश्वर्य-तिमिर-जनित अन्धत्व के दूर करने को बरसों में भी अब तक ऐसा कोई सुरमा न ईजाद किया गया।

चढ़ती उमर के जोश में बुद्धिवर्द्धक शास्त्रों के द्वारा माँजने से भी जब तब इसका नशा दूर नहीं होता, बुद्धि की स्वाभाविक मलिनता नहीं जाती। गदहपचीसी को जहाँ हमने डाँका और बाल पकने लगे कि पक्कापन उसमें आप से आप आ जाता है। सुफेदी से चमकते हुये बाल मानो गवाही देने लगते हैं कि बुद्धि के माँजने से जो चमक आई है वह अब तक छिपी रही है—आओ, अब उसकी चमक आकर देखो।

हमने ऊपर लिखा है, कोई-कोई ऐसे हैं जो चढ़ती उमर में भी असिधारा व्रत के समान चरित्र-पालन में सावधान रह चढ़ती उमर के स्वाभाविक दोष से बचते रहते हैं। उनके गुण-गौरव के प्रकाश का अवसर यही ढलती उमर का बाल पकनेवाला समय होता है जवानी दमन-शक्ति की दमक और बुद्धिचातुरी की चमक अब चौगुनी बन जाती है। धन्य हैं ऐसे लोग जो इस नई उमर की चौकड़ी से पार हो गुण-गाम्भीर्य के अगाध सागर बन औरों के लिये

हुआ, नौजवानी की उमङ्ग बड़े काम की होती है, यदि वे अपने काम समझदारी और विचार के साथ करते रहे। नववय शृङ्गार-रस का तो प्रधान सहारा है। १८ वर्ष की उमर से २५ वर्ष मे हम जो कुछ कर लेंगे वह जीवन पर्यन्त हमारे काम आवेगा। जिस ढङ्ग पर हम ढुलक जांयगे, जन्म भर वह ढङ्ग हमारा न बदलेगा। मुहर से आ रहे हों, मूछों की रेख भीझती हो, ऐसे वयःसन्धि मे प्राप्त की रेख कन्दर्प को कई गुना अधिक बढ़ा लेता है। इस तरह के नवयुवा या नवयुवती को परस्पर प्रेम-बद्ध कराने मे वह अपने पाँचों बाणो को एक साथ जब छोड़ने लगता है, वह समय जैसा नाजुक, सुहावना और प्यारा होता है वैसा ही भयङ्कर भी है। ऐसे समय आँख अलग उरझना चाहती है, मन मे अलग उचाट होना आरम्भ हो जाता है, दोनों को परस्पर प्रणय-बन्धन मे बाँध देना ही उस समय सयानापन है। शान्ति ऐसे ही समय की सराहने लायक है। इसी से किसी ने कहा है—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते॥

जो नये वय मे शान्त है उसी को शान्त कहना चाहिये। ४० वर्ष के उपरान्त जब इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं, और अपने अपने विषयों की ओर से उपराम को प्राप्त होने लगीं तब तो शान्ति अपने आप आय हमारा दामन पकड़ लेती है। घी ढरक गया, हमे रूखी ही भाती है। बुढ़ापे की शान्ति इसी भाँति की है। चढ़ती जवानी की उमङ्ग का स्वरूप किसी ने इस तरह पर दिखलाया है—

"चुलबुल चालाक चुस्त चरपर छिन-छिन में होत।"
"छैले छबीले छिछोरे छोर छोर के।"

नई जवानी मे आये हुये को जब ये सब बातें न हों वरन् संजीदगी और गौरव का आदर उसके चित्त मे हो उसी को शान्त कहना चाहिये और ऐसा ही मनुष्य समाज का अगुआ होने लगे

२०—दीर्घायु

मनुष्य के लिये आयु भी उन भाग्यवानी बातों मे है जिसके बडी होने की इच्छा सब को होती है और जिसके लम्बे होने से कोई कभी नहीं अघाता। पैंसठ बरस के हो गये, पोते-नाती कोडी और दर्जनों की संख्या तक पहुँच गये, अंग-अंग शिथिल पड़ गये, उठते-बैठते कांखते हैं। कान ने अलग जवाब दे दिया, सुन नहीं पड़ता, कमर झुक गई, आँख अलग धोखा दे गई, नजर मोटी पड़ गयी, चश्मे की हाजत होने लगी, तो भी जीने से न अघाने। रोज भोर उठ देवता-पितर मनाते हैं, थोड़ा और जीते, कनुआ के भी लड़का हो जाता, परपोता देख लेते, सोने की सीढ़ी चढ़ तब मरते तो अच्छा होता। किन्तु विवेकी बुद्धिमान् संसार की असारता ने जिसके मन में भरपूर कदम जमा लिया है वे लोग ऐसा नहीं मानते। वे अल्पायु ही को बड़ी बरकत कहते हैं।

जिकिर है, किसी फकीर कामिल ने आके नवाब खान-खाना से कहा, मैं तुम्हारे लिये दुआ करता हू और तुमको एक ऐसी जड़ी-बूटी दूँगा कि जिसे खाकर तुम या तो अमर हो जाओगे या हजारों वर्ष जिओगे। नवाब खानखाना ने जवाब दिया, मैं ऐसी बूटी कभी न खाऊँगा। फकीर साहब मुसकिराये और पूछा, क्यों? नवाब बोले, यह आप की बूटी आपही को मुबारक रहे, मैं अमर या दीर्घायु हो के क्या करूँगा। मेरे बन्धु मित्र लोग कुटुम्ब सबों की मौत मेरे सामने होगी तो मैं कहाँ तक उनके वियोग का दुःख सहता रहूँगा। मैं बाज आया तुम्हारी दुआ और बरकत से, मुझे ऐसी बूटी न चाहिये।

नमूना होते हैं। साधु जन ऐसों ही का सत्कार करते हैं, कुटुम्ब के लोग भी उसी का आदर करते हैं, विद्वन्मण्डली उसको अपना अग्रसर मानती है, चापलूस मुफ्तखोरे खोटे लोग उसे देख शरमाते हैं, मुँह छिपाते हैं, उससे आँख मिलाने की हिम्मत नहीं बाँधते, धूर्त प्रतारक वंचक वक्रवृत्तियों की कोई कला उसके सामने नहीं लहती। इसमें सन्देह नहीं, यह उमर एक कसौटी है। जो इसमें कसे जाने से खरा निकल गया वह उमर के बढ़ने पर अपने चारु चरित्र में चारुदत्त का नमूना बनता है। नीचे का यह श्लोक ऐसों ही के उदार चरित्र का द' ने वाला है—

उपरि करवालधाराः क्रूराः सर्पाः भुजंगमपुंगवः।
अन्तः साक्षाद्द्राक्षा दीक्षागुरवो जयन्ति केपि जनाः॥

यह लेख हमने केवल नई उमर वालों के उद्देश्य से लिखा है। आशा है, इसे ध्यान दे वे लोग पढ़ेंगे तो अवश्य उनको एक प्रकार की चेतावनी होगी। नई उमर में जो बहुत से दोष मनुष्य में आ जाते हैं उनसे बचेंगे और समाज तथा अपने भी कल्याण-साधन में अग्रसर होंगे।

जुलाई १८९७

हैं। जिसने जीवन को सुकर्म और भलाई करने में बिताया उसका दीर्घायु होना भी बड़े आनन्द की बात है और संसार के बड़े उपकार का है। पर कलियुग का कुछ ऐसा नियम है कि—

"पापी चिरायुः सुकृती गतायु"।

पापी बहुत दिनों जीते हैं, सुकृती जल्द उठ जाते हैं। चिरायु और अल्पायु दोनों की एक हद्द है; २५-३० या ४० के भीतर उठ गये, अल्पायु कहलाये; ८० या ६० पहुँचे, चिरायु हुये। अत्यन्त अल्पायु होना नितान्त अभाग्य है। अन्धे बहिरे अपाहिज हो ८० या ६० पहुँचे, स्मरण-शक्ति जाती रही, अकिल या समझ न रही, कहा कुछ और जाता है समझता कुछ और है। इस बुरी दशा से १०० वर्ष जिया भी तो कौन-सी भाग्यमानी उसकी है। हाँ, अविकलेन्द्रिय दीर्घ जीवन अलबत्ता प्रशंसनीय है। वेदों में जहाँ दीर्घ जीवन की आशिष-प्रार्थना की गई है वहाँ अविकलेन्द्रिय दीर्घ जीवन माँगा गया है। तद्यथा—

'शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं पश्येम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्'।

मैं सौ वर्ष जीऊँ, सौ वर्ष तक सुनता रहूँ, सौ वर्ष तक देखता रहूँ, सौ वर्ष बोलता रहूँ सौ वर्ष तक दीन न हूँ, पुनः ऐसाही सौ वर्ष और कटे इत्यादि। वेदोक्त ऐसा जीवन बड़े भाग्यमानों का होता है जो अब इस समय लाख-करोड़ में कदाचित्त एक भी इस तरह के नहीं मिलते जो सब भाँति अविकलेन्द्रिय हो इतने दिन जिये हों। इसी से ६०-६५ या ७० तक जीवन सब तरह पर अच्छा है और उतने समय ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रौढ़ और पुष्ट बनी रहती हैं। अपूर्व पुण्यशाली भाग्यवान् ऐसों ही को कहना चाहिये।

हम ऊपर कह आये हैं, मनुष्य मात्र में दीर्घ जीवन की इच्छा प्राकृतिक है इसलिये कि हम बड़ी उमर तक जी कर संसार के अनेक

अचरज तो यह कि "तुम दीर्घायु हो, दीर्घजीवी हो" इसे सचमुच संसार में आशीर्वाद कहते हैं, "शतं जीवेम शरदः शतात्" इत्यादि वेदवाक्य भी हैं। यदि यह कोई कहे, तुम अल्पायु हो जल्द इस दुनिया फानी से रवाना बाशद हो, तो जिसे कहो वह बुरा मान जायगा, आपका दुश्मन बन बैठेगा। इसमें सन्देह नहीं, मनुष्य बहुत दिनों तक संसार में रह बहुत-सी बातों का अनुभव करता है; चतुराई, ज्ञान, जानकारी आदि बढ़ती जाती है, जिससे वह अपने को और दूसरों को भी बहुत कुछ फायदा पहुँचा सकता है। लोग उसको प्रतिष्ठित और प्रामाणिक मानते हैं। उसकी हर एक बात की कदर करते हैं। मनु ने भी लिखा है—

"शूद्रोपिदशमीं गतः"।

शूद्र भी ९० के ऊपर पहुँच गया हो तो अभिवादन आदि के द्वारा उसकी वैसे ही प्रतिष्ठा करे जैसी ब्रह्मण की होना चाहिये। पर यदि कोई दीर्घायुवाला पाप और बुरे कामों पर कमर बाँधे तो उसको बुराई करने का बहुत दिनों तक पूरा मौका मिलता रहेगा। रावण ऐसे बहुत दिनों तक जी कर जब किया होगा, पाप और हत्या ही करता रहा होगा। इस संसार में बीती बातों का सोचना और याद करना भी बड़ी बात है। जब कभी हमारे मन में आता है कि फलाने समय फलाने मौके पर हम कैसी घोर विपत्ति में पड़ गये थे, या यह स्मरण होता है कि अमुक समय हमको कैसे-कैसे सुख मिले, तो आनन्द चित्त में होता है और ईश्वर का धन्यवाद करते हैं कि उसने हमें दीर्घजीवी कर उन-उन विपत्तियों से हमारा उद्धार किया, तथा ऐसे ऐसे श्रेय और कल्याण का भाजन हमें किया। पर जब यह याद आता है कि फलाने हमारे हितैषी प्रीति-पात्र मित्र गुजर गये तो कैसा दुःख और सन्ताप चित्त में बढ़ता है? इससे दीर्घायु की उपमा हम उस धूपछाँह से देंगे जिसमें अच्छा और बुरा दोनों रंग दिखाई पड़ते

नितान्त कष्टदायी होती है। अब थोड़ा यहाँ पर आपको यह दिखलाया चाहते हैं कि कौन किस लिये दीर्घायु होने की इच्छा रखते हैं।

बुद्धिमान, कवि-कोविद विविध कला-निपुण इसलिये बहुत दिनों जिया चाहते हैं कि जिस कला या हुनर को उन्होने सीखा है या नई ईजाद की है, उसे परिणत करें अर्थात् औरों में उसे फैलाय अपने हुनर और कला को और बढ़ावे या पक्की करें। बुढ़ापे में मानसिक या शारीरिक शक्तियों के कम हो जाने से कभी को किसी नई रचना की बुद्धि न रही तो कवि अपनी पुरानी ही रचना या कृत्य को देख या याद कर अपना मन प्रसन्न करता है और उसका आत्मा जुड़ाता है। विद्वान् तथा बुद्धिमान् दीर्घ जीवन मे जो उसे अनुभव हुआ है उसे और भी पुष्ट किया चाहता है। उपाधिधारी बड़ी मेहनत और बहुत सा खर्च कर जो पदवी उन्होंने पाया है उस पदवी का फल राजा और प्रजा में मान, लोगों के बीच प्रतिष्ठा और सत्कार के सुख का अनुभव किया चाहते हैं। वकील, बैरिस्टर तथा जज लोग दीर्घ जीवन इसलिये चाहते हैं कि कानूनों के जाल में प्रजा को फसाने के लिये हिन्दी की चिन्दी निकाल कानून की बारीकियों में मान बढ़ाते रहें। एडिटर दीर्घ जीवन इसलिये चाहते थे कि अपने कलम के जोर से राजा और प्रजा दोनो की भलाई करते हुये अपनी लिखावट से पढ़नेवालों का मन अपनी ओर खींच लें, पर सेडिशन के भय ने उन्हें संकुचित कर दिया तो अब उनका हौसिला पस्त हो गया। हमारे सेठ जो दीर्घ जीवन की इच्छा इसलिये रखते हैं कि गंजिया पर गंजिया रुपयों से भर तहखानों-तहखानों में सैंत के रखते जाँय। किसी उचित काम में जिसमें देश या जाति-भलाई की आशा हो उसमें एक पैसा खरचते मन में हजार तरह का आगा-पीछा हो, पर लड़की-लड़का ब्याहने में गंजिया की गंजिया लुट जाँय कुछ परवाह नहीं इत्यादि।

जून १८९८

भोग-विलास का सुख अनुभव करे। जो शरीर से स्वस्थ और सब भाँति सुखी हैं उनको यह इच्छा होना कोई अचरज नहीं है। किन्तु जो रोग से पीड़ित और बड़े-बड़े दुख सह रहे हैं उनका भी रोग से छुटकारा पाना और सुख भोगने का समय कभी आने की आशा दीर्घायु होने की इच्छा को प्रबल करती है—

कल्याणी वत् गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि॥

लोगों की यह कहावत हमें बहुत ठीक मालूम होती है कि मनुष्य जीता रहे तो एक न एक दिन वैसा सुख उसको आ उपस्थित होता है कि उसके सुख का वह पलरा दुख के उस पलरे के बराबर हो जाता है जिसे वह तमाम जिन्दगी भर सहा किया। और यह आशा बड़े-बड़े दुखियाओं को जीने की ओर से निरुत्साह होने से रोकती है। लोग दुख में पड़ कहते हैं, मुझ अभागे को मौत भी नहीं आती। कितने तो दिन में कई बार ऐसा कह उठते हैं। जरा-सा झंझट और तरद्दुद या सङ्कट आ पड़ा कि मौत का आवाहन करने लगते हैं। पर यदि कोई उन्हें यह निश्चय करा दे कि कल तुम मरोगे तो रंग फीका पड़ जाता है, आँसू बहाने लगता है। इसे आप चाहे मोह कहो, माया में पड़ना कहो, अज्ञान कहो या जीवनाशा कहो, कड़े से कड़े आदमी का भी उस समय जो पिघल कर नरम पड़ जाता है।

यद्यपि कवि सिरमौर कालिदास का कथन है—

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।"

शरीरधारी के लिये मरण प्राकृतिक है, उसका जीता रहना ही प्रकृति के विरुद्ध है, पर जीवनाशा कवि के इस कथन पर कभी नहीं किसी का ध्यान जमने देती। मनुष्य एक ऐसा संयोग-सहचारी जीव है कि जब से माँ के पेट से निकल धरती में पाँव रक्खा कि संयोग-सुख का अनुभव करने लगता है। वियोग का विचार और चर्चा भी उसे

इन आगन्तुकों में अमित असीम महोर्मिमाली वरुणालय को नाँघते-डाँकते एक ऐसे आये जो अपनी काल-व्याल-सी भीषण विकराल दृष्टि के पात से उस बूढ़े बागवान को संत्रासित करते नस-नस उसकी ढीली कर डाला। भोला भाला बागवान इसी ख्याल में था कि यह भी हमारी इस मनोहर वाटिका पर रीझ यहाँ बस हमारा एक अंग बन जायगा। किन्तु यह नया पाहुना ऐसा चालाक निकला कि इसने उस समस्त वाटिका को तिल-तिल नाप जोख बात की बात में अपना अधिकार उस पर जमा लिया और सरल चित्त बाग के माली को सब ओर से ऐसा जकड़ लिया कि अब यह इस नये पाहुन के पेंच में पड़ा हुआ सब भाँति बेबस हो गया और जो कुछ समझ रक्खा था कि थोड़े दिन के जोर-जुल्म के बाद या तो यह चला जायगा या बस जायगा तो औरों की तरह यह भी हमारा ही होकर रहेगा सो सब बात उलटी पड़ी। यह पहुना चालाकी में एकता निकला। पहले वालों का सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन शक्ति को भी खूब टटोल लिया था। इसने अपनी जन्मभूमि का सम्बन्ध न छोड़ा वरन् जहाँ जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया अपनी मातृ-भूमि में भेजना आरंभ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को निःसत्व कर डाला।

अस्तु, यद्यपि इस वाटिका की सर्वाङ्गसुन्दरता हर ली गई और पहले की सी पवित्रता-उज्वलता अब कलुषित और दागीली कर दी गई, फिर भी ऐसी-ऐसी क्यारियाँ इसमें मौजूद हैं कि जो जिस तरह के फल-फूल का रसिक है वह यहाँ पहुँच अपनी रुचि के अनुकूल उस तरह का पाय मनमाना उसे छक कर तृप्त और अघाया हुआ अपने को मालूम कर सकता है। पहले हम अपने पढ़नेवालों को उस क्यारी के पास ले जाते हैं जो इस वाटिका के जीर्णारण्य में सब ओर लंबी लंबी घास और नुकीले सुये की भाँति चुभनेवाले काँटों से

२१-विशाल वाटिका

पहले इसके कि इस विशाल वाटिका का हाल हम अपने पढ़ने-वालों को कह सुनावें उचित जान पड़ता है कि जिस बाग का सैलानी हम उन्हें बनाते हैं, उस बाग के बागवान के साथ उनका परिचय करा दें। यह बागवान यद्यपि बूढ़ा हो गया है और अब इसकी नस-नस ढीली पड़ गई है, पर बागवानी के हुनर में सब भाँति कुशल अपने नये-नये साथियों से कहीं पर किसी अंश में कम नहीं है। इस बाग के माली में यह एक अनोखा गुण पाया गया कि इस बाग की सर्वाङ्ग सुन्दरता पर मोहित हो यहाँ आया, उसे इसने इतना लुभाया कि वह अपनी निज की जन्म-भूमि को भूल यहीं का हो गया। इस तरह के पाहुने एक दो नहीं, वरन् न जानिये कितने आये और आते जाते हैं। कितने भूत के आकार से लम्बी-लम्बी दाढ़ी वाले यहाँ के फूल-फल पर प्रलोभित हो आये। जो कुछ हाथ लगा, नोचखसोट चम्पत हुये। एक इन लुटेरों में से पाँव का लँगड़ा भी था। कोई-कोई आये तो इसी मनसूबे से कि जो कुछ पावें ले लेवाय चल खड़े हों, पर-इस बाग के माली के साथ उनको ऐसी खिल्तमिल्त हो गई कि वे भी अपनी जन्मभूमि को भूल यहीं के हो गये। कोई अदला-बदला करने की इच्छा से आये, उनकी उजाड़ ऊसर धरती में जो कुछ उन्हें मिला उसे यहीं छोड़ यहाँ के सुस्वादु रसीले और सुगन्धित फल-फूल ले गये। कुछ दिन के उपरान्त उनको भी जंगल, उजाड़ और ऊसर धरती में रहना पसन्द न आया। इस चतुर माली के कोमल बर्ताव से इस मनोहर वाटिका पर मोहित हो उन्हें भी यहीं अपना घर बनाना पसन्द आया।

कौशल, हाथ की कारीगरी, विज्ञान-चातुरी, शिल्प और वाणिज्य दूर-दूर के देश तक विख्यात रहा। इसी से बाग के माली का अनेक बार की लूट-पाट पर भी जरा मन न खटका, सदा सुख-चैन की दशा मे रहा आया। किन्तु थोड़े दिनों मे अकाल-जलदोदय की भाँति एक ऐसी घटा उमड़ आई कि जो शिल्प और वाणिज्य दूर देश तक फैला था और जिसकी कदर की थाह न थी, खुरखुरा, भद्दा और मोटा वरन् घिन के लायक हो गया।

हम इसके मालिक को धन्यवाद देते हैं जो इस क्यारी की भूमि मे एक ऐसी खाद छोड़ चले कि विदेश मे आई हुई वह घटा छिन्न-भिन्न हो गई। परदा जो आँख के सामने आ, हट गया; एक बारगी सबके सब चौंक पड़े, जैसा कोई सोते से जाग उठे। सोचने लगे, हाय हम सब लोग किस मोह जाल मे पड़े थे। अब नये सिरे से इन क्यारियों के पेड़ों को सींचने और सानने में बड़ी सावधानी से दत्तचित्त हो रहे हैं। आशा होती है, अब यहाँ के फूल फल पहले से भी अधिक सर्व- ग्राह्य होंगे। बागवान जो दीन दशा में आ गया है और इसके लड़के-बाले जो काम न रहने से भिखारी हो गये, बड़े-बड़े धनियों के समकक्ष हो जाँय तो क्या अचरज?

चलिये, अब आपको दूसरी क्यारी की सैर करावें, जहाँ की पुण्य भूमि और पवित्र स्थलियों में कल्पवृक्ष-से पादप उपज कर अपने जगद्विदित घ्राण-तर्पण सुरभित कुसुम की कुसुमावलियों ने संसार की कौन ऐसी दार्शनिक-मण्डली, विविध कला-कोविद-विद्वानों का समूह, कवि-समाज, तथा वैज्ञानिक बच रहे जहाँ इन फूलों की सुगन्धि नहीं पहुँची। पेशगोई और नबूअत का झंडा गाड़े हुए धर्म के प्रचारक जो ईश्वर का एकलौता पुत्र तथा जगत् का त्राणकर्ता कह अपने को प्रसिद्ध किये थे वे भी इन क्यारी के वृक्षों का फल चख कृतकृत्य हो गये और यहाँ के अमोघ ज्ञान के दो-चार बिन्दु पाय अघाय उठे।

आवृत है, जहाँ पहुँच बाग के सैलानी को इस श्लोक के भावार्थ का भरपूर अनुभव होता है—

"पत्रपुष्पफलच्छायाः कन्ताप्यहृष्टं वृत च खलु शूकैः।
उपसर्पेम भवन्त वद बबु र कस्य लेभिन" ॥

इस क्यारी का सब गाटे का गाटा कंटकावृत होने से निकम्मा हो रहा है। जहाँ कहीं कोई पेड़ भी है तो विषफल उसमे फलते हैं, जिसके खानेवालों को रग-रग मे उन फलों का असर बैर-फूट परस्पर की स्पर्द्धा, ईर्ष्या, द्रोह, मद, मात्सर्य के सिवाय और कुछ वहाँ हई नहीं। इन फूलों की तीखी महक और इसके फल का कड़ुआ रस दूर-दूर तक इस सम्पूर्ण वाटिका मे ऐसा व्याप गया है कि समस्त गुण-रंजित होने पर भी यहाँ के पेड़ केवल फूट के कारण नहीं फबकते। इस गाटे की धरती मे एक अनोखी बात देखने में आई। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में लिखा है कि खुदा ने आदम को ज्ञान के पेड़ का फल खाने को मना किया था, पर इसके विरुद्ध यहाँ अज्ञान का वृक्ष न जानिये कहाँ से उग आया है कि जिसने अज्ञान के फल को चक्खा उसमे विज्ञता-संपादन की यावत् चेष्टा और प्रयत्न सब व्यर्थ होता है।

प्रिय पाठक! इस बाग के सैलानी बनते हो तो सावधान रहो, दत्तचित्त हो हमारी बात पर ध्यान दो। ऐसी न जानिये कितनी क्यारियाँ इसमे हैं, उनकी ओर न झुक पड़ना। ऐसा न हो कि उन विषैले फलों की हवा तुम्हे लग जाय और तुम इन फलों के खानेवालों के साथी बन जाओ। लो आगे चलो, देखो ये कैसी मनोहर क्यारियाँ हैं। इसके अनगिनत पेड़ फूल और फलो से लदे लहलहाते हुये कैसी शोभा दे रहे हैं। इसके फूल-फल उन्हीं को सुलभ हैं जो परिश्रमी, दृढ़संकल्प और उद्यमी हैं, जिनमें इतना साहस है कि काम पड़ने पर असीम महासागर और दुर्गम खाड़ियों को "गोष्पद" गऊ के खुर के समान पार कर डालते हैं। 'किं दूरं व्यवसायिनाम्'? इनका कला-

भूति सरीखे कवियों की सूक्ति का रसपान जिन्हें स्वप्न में भी काहे को मिलता होगा।

"सत्कविरसनासूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी॥"

कवि ने अमृत से दयिताधर को उत्तम कहा है। सच है—अमृत निगाड़े को कहाँ इतना साहस जो कविता के दिव्य रस की तुलना कर सके। कवि ने पहले सुधा-दासी से दयिताधर को आदर दिया, फिर कविता के रस का स्मरण कर उसे भी भुला दिया। केवल कविता ही पर क्या, यह वाटिका तो रस की खान हो रही है। जिस विषय का जो रसिक है उसे अपने मन के माफिक विनोद यहाँ मिलना अति सुलभ है। वाटिका की किस-किस बात की सराहना की जाय—यहाँ की धरती की उर्वरा-शक्ति; जल-वायु की मृदुता; समय-समय ऋतु का परिवर्तन; पृथ्वी के जिस भू भाग के जो हों, वे सब अपने-अपने घर का सुख यहाँ पा सकते हैं। इसी से जो यहाँ आये-उन्होंने फिर अपनी जन्मभूमि में लौट जाने का मन न किया और जो आगे अब अपना स्वत्व ही इस पर स्थापित करते गये। अपनी पहिले की जरोरी-बरोरी को तिलांजली दे उन्हीं के समकक्ष बन गये जिनका मांस और रुधिर अनादि काल से इस वाटिका की भूमि में संलग्न है। कदाचित् मेदिनी पृथ्वी का नाम इसी से पड़ गया कि पृथ्वी उन्हीं की मेदा-चर्बी की बनी है, अस्तु इस वाटिका का वर्तमान दृश्य देख यह निश्चय हो गया कि—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः"।

विधाता समग्र गुण एक ही में रखने का बड़ा विरोधी है। जैसी यह सुललित वाटिका मन को रमाने वाली थी, भूमि प्रशस्त गुण-संपन्न और फूल-फल भी सुगन्धि और मिठास में अद्वितीय थे, वैसा ही इन फूलों में आत्मगौरव क्यों न आया? इनको अपने रूप का परिचय

किन्तु हा कुचाली काल चाण्डाल का सत्यानाश हो, अकस्मात् एक ऐसा हिमपात हुआ कि इस बाग के सब पेड़ ठिठर-से गये और वे फल-फूल जो ऐहिक तथा आमुष्मिक ज्ञान इहलोक और परलोक के उपकार-साधन का स्रोत या केन्द्र है, हिम के करका-पात से दबकर सब छिप गया। विदेशी सभ्यता और विदेशी शिक्षा की तो यही चेष्टा थी की इस पवित्र ज्ञान के खजाने को सर्वथा निर्मूल और नष्ट-भ्रष्टकर डालें, किन्तु जो सत्य है उसका त्रिकाल में नाश नहीं होता। Truth is always truth. दूसरे पूर्वज महर्षियों के तपोबल का प्रभाव और सत्य पर उनकी पूरी दृढ़ता कैसे व्यर्थ हो सकती है? वे ही प्रद्योतित हृदयवाले जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा से बहक महात्मा-ऋषियों के अनुभव और ज्ञान को "नानसेन्स" कहने लगे थे, अब उसी को सत्य के पाने का द्वार मान रहे हैं।

इस क्यारी की शोभा के निरीक्षण में हम कहाँ तक आपको बिलमाये रहें? इसके एक-एक पेड़ ऐसे हैं जिनका पूरा परिचय प्राप्त करने के लिये आपको महीनों और वर्षों चाहिये। चलिये, आगे बढ़िये, देखो सामने यह कवि-वाटिका की क्यारी लहलहाती हुई अनिर्वचनीय आनन्द-सन्दोह मन में उपजा रही है। इसका यह एक अद्भुत प्रभाव है कि यहाँ पहुँच तुम्हारे मन-मधुप को कहीं और ठौर विचरने की इच्छा ही न होगी, न उसे इतना अवकाश मिलेगा।

"नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली।"

चलते-चलते आप थक गये होंगे इससे थोड़ा ठहर इन्हीं द्रुम-कुञ्जों में विश्राम ले तब आगे चलिये। तथास्तु (सैलानी बैठ गया, थोड़ा सुस्ता कर) व्यर्थ ही लोग अमृत को सराहते हैं, स्वर्ग में देवगण निरन्तर अमृत का एक रस-पान करते-करते ऊब गये होंगे इस वाटिका के शृङ्गार वीर, करुणा आदि नौ रस का पान करते हुये धरती पर मनुष्यों को देख अपने को धिक्कारते होंगे। कालिदास, भव-

२२—मेला-ठेला

मसल है,—

"काज़ी काहे दुबले शहर के अन्देशे"।

ज़माने भर की फ़िकिर अपने ऊपर ओढ़े कुढङ्गों के कुढङ्ग से कुढ़ते हुये मनीमन चूरचूर नहूसत का बोझ सिर पर लादे पञ्च महाराज उदासीन घर बैठे रहा करते थे। आज न जानिये क्यों मेला देखने का शौक चर्राया तो दो घड़ी रात रहते भोर ही को खूब सज-धज पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति तेल और पानी से बदन चुपड़ घर से निकल चल खड़े हुये। मेला क्या देखने गये मानो अपना मेला औरों को दिखाने गये। खैर पढनेवाले जैसा समझें। एक ओर से निपटते चलिये—"चलो हटो बचो", "सभा में दोस्तों इन्दर की आमद है," "मस्तो सम्हल बैठो जरा हुशियार हो जाओ।" भिंगुरू साव की सवारी है। खड्डेदार बुल्ला सेर भर मास हो तो रफू हो, उस पर खूबसूरती और नज़ाकत के नखरे किससे देखे जाँय? अबे ओ! कोचवान सोता है क्या? जरा चेत कर जोड़ी हाँक। जानता नहीं, मेला है, झमेला है, तमाशबीनों की भीड़ का रेला है। यह दूसरे कौन हैं—राय दुर्लभचन्द के पोते राय सुलभचन्द।

"नाम लखनचन्द मुँह कुकरै काटा।"

मानो मास का लोंदा थूहा सा रक्खा हुआ। विधाता की अद्भुत सृष्टि का एक नमूना। किस मतलब से गढ़ा गया, कौन बतला सकता है? कुम्हार का बर्तन होता, बदल लिया जाता। हाँ जाना, ब्रह्मा महाराज इसको गढ़ते समय दो चित्त हो दुबिधे में पड़े थे या—

"लुक मेक जाक"—हाथ में लिये रहे हों।

बिल्कुल न रहा, न जानिये कब से ये अपने को भूले हुये हैं। हमें खेद है कि अपने पास ही जापान की वाटिका का नवाभ्युत्थान देख इन्हें अपने पूर्व-रूप-संपादन का हौसिला क्यों नहीं होता है? अनाथ-नाथ! तू जो इन्हें सनाथ किया चाहे तो निमेष मात्र में सब कुछ कर सकता है। सब तेरे अधीन हैं।

नम्बर १९०५

"पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणी तले ।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।"

"एकेन शुष्क चणकेन घटं पिवामि गंगां पिवामि सहसा लवणाद्र केण ।"

सच है—

"एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत ।"

शाबास गाजी मर्द ! अच्छे वंश उजागर कुल की कलँगी पैदा हुये ।

"वंशस्याग्रे ध्वजो यथा ।

लू-लू है, जाने दो, इस छुछून्दर को । लो इधर ध्यान दो छल्लेदार बालों में तेल टपकता हुआ, पान के बीड़ों से गाल फूला मानो बतौड़ी निकली हो, आड़ा तिलक—मुँह चुचुका, आशिकतन, हिमाकत नजाकत शानोशौकत में लासानी । घर में भूँजी भाँग भी नहीं, पर बाहर मानो दूसरे नवाब शाह वाजिदअली । अरे खिलौनेवाले बाबू साहब को खिलौना दे । चटुआ भी तेरे पास है ? दे बाबू साहब चटुआ चाटेंगे । चरखी है । क्या लेगा ? उः पाकेट खाली ।

"बान पुरुष को कौड़ी नाहीं शिवकोटी को घोड़ा ।"

जाने दो । छोड़ दे बालक का पिण्ड, ओ खिलौनावाला जा । क्यों किसी की पोल खोल फजीहताचार करता है ? आहा कहीं सुर्ख कहीं बैंगनी कहीं नीली कहीं पीली भाँत-भाँति के रंग की बदली घटा की घटा किधर से उमड़ी चली आ रही है । यह कौन है—बी० दुरसो और यह दूसरा बी० चानो । बी० खानो, मगानो, गुमानो, कनानो, अमीरों की इमारत, शहर के शहरीयत की शान, विसनी आशिक तनों की प्रान, और यह दूसरा कौन है बी० जुहरो । अरे ओ बी० जुहरो अंजनागिरि पर्वत की श्यामता का अनुहार करनेवाले तुम्हारे गात-वर्ण की शोभा पर तन-मन-धन सब वारे हुये ये मुकुलित

अब यह दूसरे कौन आये—रियासत की गठरी का बोझ सिर पर लादे राय कंबख्तचन्द के वली अहद बदबख्त बहादुर। जरदी मुँह पर छाई हुई सींकिया पहलवान क्यों हो रहा है ? क्या इसको बदन सुखाने वाला रोग हो गया है ? नहीं-नहीं ऐयाशी और शराब ने इसका यह हाल कर डाला। कुन्दे नातराश यह दूसरा इसके साथ कौन है—नरकू महाराज के सगे नाती, अक्षर से भी कभी भेंट हुई है, कौन काम है ? न हम पढ़े न हमरे आजा। पढ़ें-लिखें क्या सुआ-मैना हैं, पढा लिखा तू पच।

"वह-वह बहै बैलवा बैठ खॉय तुरंग।"

हमारे कुल में पढ़ना-लिखना नहीं सोहता। हमारे बाप के छोटे ताऊ गठरी भर पोथी पढ डालिन। रहा जगानै उजहि गये। तब से हमारे तात चरण का सिद्धान्त हो गया है—

"हम पंचन के वंश में कोई नहीं विद्वान।"

भाँग पियें गाँजा पियें जय बोलै जिजमान॥"

"चपलान् तुरगान्परिनत्यतः पथि पौर जनान्परिमर्द्यतः।"

ये कौन हैं—सींग पूछ कटाय बछड़ों न दाखिल अहल योरप पूरे जेन्टिलमेन शाह पनारूदास।

"बाबू न कहना फिर कभी मिस्टर कहा जाता हूँ हम।
कोट पतलून बूट पहने टोकरी सिर पर धरे।
साथ में कुत्ते को लै के सैर को जाता हूँ हम।
दियानतदार अपने कौम में मशहूर हैं।
सैकड़ों लोगों से चन्दा लेके खा जाता हूँ हम।
खाना-पीना हिन्दुओं का मुझको खुश आता नहीं।
बीफ, काँटा, चमचा से होटल में जा खाता हूँ हम।
भाँग, गाँजा, चरस, चण्डू घर में छिप-छिप पाते थे।
अब तो वे खटके हमेशा ह्विस्कि ढरकाता हूँ हम।"

२३—दल का अगुवा

दल या जमात का अगुवा सदा एक होता है, दो-चार नहीं। जहाँ दो-चार अगुआ बनते हैं और वे अपनी प्रतिष्ठा और अपनी राय सबके ऊपर रक्खा चाहते हैं, वह जमात छिन्न-भिन्न हो जाती है। सब लोग तितिर-बितिर हो उस दल को कायम नहीं रक्खा चाहते। इसी बुनियाद पर कहा गया है—

सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डित मानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥"।

जहाँ सभी अगुआ बनते हैं, सब लोग अपने को बुद्धिमान मानते हैं, एक ही आदमी की अक़िल पर रहनुमा नहीं हुआ चाहते, सभी अपना-अपना बड़प्पन चाहते हैं, वह जमात मुसीबत में पड़ जाती है। कदाचित् इसी बात का ख्याल कर किसी ने कहा है।

"न गणस्याग्रतो गच्छेत्।"

किसी दल का अगुआ न हो, अर्थात् पहले किसी बात का नमूना आप न दिखलावे। इसलिये कि उस काम के बन जाने पर नमूना बननेवाले को विशेष लाभ नहीं। और जो उसके नमूना दिखलाने से काम बिगड़ गया तो सब लोग उसी की फजीहत करने लगते हैं। पर यह तो क्लीवता और नामर्दी है। सैकड़ों बुराइयाँ हमारे समाज में इसी से नहीं मिटाये मिटतीं। किसी को इतना साहस नहीं है कि पहले खुद कर दिखावे। अच्छे पढ़े-लिखे लोगों में इतनी हिम्मत नहीं है तब अपढ़ बेचारों का क्या कहना! जैसा बाल्य विवाह के सम्बन्ध में किसी को साहस नहीं होता कि रजोदर्शन के उपरान्त कन्या का विवाह करने में नमूना बने। कान्फरेन्स और कमेटियों में पहले और

कल्लांच खराब खस्तह मुहब्बत के फन्दे मे गिरफ्तार, अपना सब कुछ समर्पण कर ठिकरा हाथ मे ले दर-दर भीख माँगने लायक हो गये। अब और क्या चाहती हो ? शरम को शहद बनाय चाट बैठे, विना वेहयाई का जामा पहने आशिक के तन जेब नही, गाढ़े इश्क के आशिक़ हैं, जुदाई में मल-मल के हाथ रहते हैं। अफसोस जर दिया जनानो को माल पास न हुआ, नही तो कौआ परियों की फौज खड़ी कर आप उसके कप्तान बनते। या तो किसी समय मटियाबुर्ज के नवाब थे या इस समय यही देख पड़ते। आहा आप हैं—पण्डित अमुक-अमुक-अमुक। पण्डित जी नमस्कार। यह दूसरे कौन हैं—श्री-कान्त देव—कि महाशय माला बामेर। और यह बाबू फलाँ-फलाँ-फलाँ। मिस्टर सो ऐण्ड सो। गुड मार्निंग मिस्टर जान बुल! हौ डू यू डू? और यह सेठ जी। जै गोपाल सेठ जी और यह आप हैं! ओः खो! आप क्या है, बला हैं, करिस्मा हैं—तिलिस्मा हैं—किनाभिला हैं—आश्चर्य अद्भुत तथा लोकोत्तर वस्तु का सन्दोह हैं। उठती उमर जग जाती जवानी के उफान मे अन्धे न जानिये कितने कंटाप और पादाघात सह तब अनग के अखाड़े की पहलवानी प्राप्त की है। गरज कि ऐसे कितने कुढगों का ढंग देख पंच महाराज ऊब गये और मन मे दृढ सकल्प कर लिया कि मेले-ठेले के कभी डाँड़े न जाना। पछ-ताते हुये घर लौट आये।

जून १८६६

किया जाता और माना जाता है जिसका चरित्र कहीं से किसी अंश में दूषित न हो—

"वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" चारो वर्ण मे ब्राह्मण गुरू या अगुआ है। तो निश्चय हुआ कि ब्राह्मण निर्दूषित चरित्र हो। इस समय ब्राह्मण जो दूषित चरित्र हो गये तो और लोगों को उन पर आक्षेप करने का मौका मिल गया है। और-और प्रान्तों की हम नहीं कहते, हमारे यू० पी० में इस समय सवों की रुचि के समान अच्छे राजनैतिक अगुआ की बड़ी जरूरत है। हमारे नई उमंग वाले बिना किसी अगुआ के बिलबिला रहे हैं, कोई हाँथ पकड उन्हें चलाने वाला नहीं मिलता।

निस्सन्देह अगुआ होने का काम बड़ा टेढ़ा और बिना सिंहासन का राज्य है। राजा का अटल और सुस्थिर राज्य तभी होता है जब सवों का प्रसन्न करता हुआ प्रजा का मनोरंजन हो। वैसा ही अगुआ का रोब और दबदबा तभी रहेगा जब वह सवों के मन की करेगा, नहीं तो एक से मीठा दूसरे दल से खट्टा बना रहेगा और जिस काम को करना चाहता है, कृतकार्य उसमें कभी न होगा।

फरवरी १६०८

विवाह बहुत करेंगे; पर करके कुछ न दिखावेंगे। सच मानिये, बाल्य-विवाह की जड कभी नहीं कट सकती, जब तक कन्या में रजोदर्शन की कैद कायम है। अस्तु।

अब यहाँ पर विचार यह है कि अगुआ कैसा होना चाहिये? अगुआ मे सबसे बडी बात यह है कि वह अपने मन मे कोई काम न कर गुजरे, जब तक सबकी राय न ले ले और सबों का मन न टटोल ले। दूसरे उसमें शान्ति और गमखोरी की बड़ी जरूरत है। जिस काम के बनने पर उसका लक्ष्य है उस पर नजर भिड़ाये रहे, दल मे कुछ लोग ऐसे हैं जो उसके लक्ष्य के बड़े विरोधी हैं और वे हर तरह पर उस काम को बिगाड़ा चाहते हैं। अगुआ को ऐसी-ऐसी बात कहेंगे और खार दिलावेंगे कि वह उधर से मुँह मोड़ बैठे और क्रोध मे आप सर्वथा निरस्त हो जाय। ऐसी दशा में यदि उसमे शान्ति और गमखोरी न हुई तो बस हो चुका, काहे को वह उस काम के साधने में कभी कृतकार्य होगा। फिर अगुआ अपने सिद्धान्त का दृढ और मुनसिफा मिजाज हो। कहावत है—"सुनै सब की करै अपने मन की।" क्षुद्र से क्षुद्र का भी निरादर न करे, अपने मन्तव्य के विरुद्ध राय देनेवालों को ऐसे ढंग से उतार लावे कि "साँप मरै और लाठी न टूटै", सिवा इसके अगुआ को सर्वप्रिय हर-दिल-अजीज होना चाहिये। जब तक सब लोग उसे प्यार न करेंगे और चित्त से उसका आदर न करेंगे तब तक उसके कहने को स्वीकार कैसे कर सकते हैं? किसी का आदर तभी होता है जब मन मे उसको रहने की जगह हो।

अगुआ के लिये चरित्र का शुद्ध होना बड़ी भारी बात है। जो चरित्र के शुद्ध नहीं जिनका चाल-चलन दगीला है वे कैसे दूसरों के चित्त पर असर पैदा कर सकते हैं? विशेष कर सामाजिक मामलों में जो समाज का अग्रणी हो उसे चरित्र का पवित्र होना ही चाहिये। जैसा धर्म सम्बन्ध में हमारा अगुआ गुरु होता है। बहुधा गुरु वही

इससे यही सिद्ध हुआ कि मनुष्य को रसीली बातों में भी रस का आस्वाद या अनुभव केवल दशा के परिवर्त्तन पर निर्भर है। चढ़ती जवानी है; धन की कमी नहीं; लाखों लुटायें तो भी घटने का नहीं; सब भाँति स्वच्छन्द निरंकुश किसी की दाब नहीं; निडर निःशङ्क हो आमोद-प्रमोद की ओर झुक पड़े। विलासिता में अपना औवल दरजा समझने लगे, प्याले पर प्याला उड़ता है, कभी दम भर के लिये भी बाबू साहब शरूर से खाली नहीं रहते। अपने शहर की तो कोई बात ही नहीं, देश-विदेश में भी जहाँ तक हुस्नपरस्ती की हद है, अपने भरसक नहीं छोड़ते। एक तो किसी गिनती ही में नहीं, जब तक दो-चार लोनाई और सौन्दर्य में एकता न मिले, तृप्ति नहीं। एक साथ ऐसा उतारू हुये कि दो ही चार वर्ष में निचुड़ पीले आम पड़ गये, उधर उमर ढल चली, सब भाँति निःसत्व और क्षीण हो गये, गाल चुचक गये, आँख की पलकों पर गड्ढे पड़ गये, जिनमें पसर भर चना अमा जाय। रोज खिजाब करते हैं, दिन में चार दफा दवा चाटते हैं, सेरों मोती घोटकर खा गये, पर पहले का-सा रस नहीं आता। जिसके पाने को हजार तदबीर और यत्न करते हैं, कुछ कारगर नहीं होती। तेल और पानी से नित्य देह चुपड़ते हैं कि पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति फिर जवान मालूम हों, पर असली बान नहीं आती, वरन् फोकापन बढ़ता ही जाता है।

असंख्य धन है, राज है, पाट है, सब तरह की हुकूमत हासिल है, सातखण्ड का मतमहला राजभवन सा मकान है; किन्तु चिराग बुझ रहा है, इन सबका बर्त्तने वाला आगे कोई दीखता नहीं। सब सब उपाय कर थके; टोना-टनमन, पूजा-पाठ, जप-तप, गंगा-ननारम्भ, जिसने उपाय बतलाया, कोई न छोड़ रक्खा; दो-दो, तीन-तीन ब्याह भी किये कि अब भी कोई एक वंश का अंकुर हो, पर करतार ने कृपा न की पुत्र का मुँह देखने में न आया। राज-पाट धन-दौलत सब फीकी

२४—रस में फीकापन कब आता है

रसीली वस्तु, रसीली बात, रसीली तबियत मे रस ज्यों का त्यों बना रहता है, किन्तु दशा के परिवर्तन मे वही चीज या वही बात बेमजे या बदजायके हो ऐसी फीकी मालूम होने लागती है कि न जानिये पहिले की-सी मिठास कहाँ बिलाय जाती है। बहुधा तो रस के आस्वाद मे सुख का अनुभव तभी तक होता है जब तक मन मे किसी तरह का उद्वेग, चिन्ता या उतावली नहीं स्थान पाती। बुद्धिमानों का सिद्धान्त है—यह संसार जो विष का एक वृक्ष है इसमें दो ही फल अमृत के तुल्य फलते हैं—काव्यामृत के रस का आस्वाद और सज्जनों के साथ सहवास—

"संसारविषवृक्षस्य द्वे फलेह्यमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गतिः सुजनैः सह।"

हम कहते हैं, सज्जनों के सहवास मे और काव्यामृत में भी रस तभी तक है जब तक चित्त चिन्ताग्रस्त हो खिन्न और उद्विग्न नहीं हुआ। प्रसिद्ध आशुकवि जिनमे ऐसी ईश्वर की देन पाई गई कि पलक भँजने मे चाहे देर लगे पर उनकी लोकोत्तर प्रतिभा को उत्तम से उत्तम रसीली कविता गढ़ते देर नहीं लगती, जिनका दिमाग क्या टकसाल घर है। इसी तरह पर विद्वान्, दार्शनिक और मैथमेटिशियन जो दर्शनशास्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक विचार अथवा मैथमेटिक्स के कड़े से कड़े सवाल चुटकी बजाते हल कर डालते हैं वे भी चिन्ताग्रस्त उद्विग्न दशा में ऐसे शिथिल पड़ गये और उनकी पैनी बुद्धि यहाँ तक गोठिल हो गई कि काम पड़ने पर वह प्रतिभा न जानिये किस अन्धे तहखाने में जा छिपी, मानो वाक्स्तम्भ-सा हो गया।

व्यापार करते हैं, बड़ी भारी दूकान है, लाखों का बारा-न्यारा महीने में होता है, सिरे सराफ मे गिनती है, प्रकृति और आकृति दोनों मे पूरे पिशाच, दूसरे की जमा कहो सर्वस्व गटक बैठें; अपनी एक कौड़ी भी निकलती हो तो काईं-छूँ, काईं-छूँ कर दिमाग चाट डालें। व्योपारी चाहता है कि हम सेठ जी की लिपड़ी बरताना कर ले और सेठ जी इसी ताव में हैं कि यह खूसट जाने न पावे, जहाँ तक हो सके इसका ऐसा वस्त्र-मोचन कर ले कि तसमा न बचे। दलाल अपनी ही घात मे है, यह हजरत व्यापारी और सेठ जी दोनों को गावली दे अपना मतलब गाँठ चम्पत हुआ चाहते हैं। फकीरचन्द भिखारीदास की २५ हजार की हुण्डी ५४ मिती को ली थी, मिती पुरती है, रुपया तैयार नहीं है, आज नहीं देते, दिवाला पिटता है, मुनीम और गुमास्तों पर हाँव-हाँव खाँव-खाँव, कोई कुछ बोला काटने को दौड़े, किसी की बात नहीं पोसाती। दूकान का टाट उलट मुँह छिपाये सोच रहे हैं, अब संसार में क्या मुँह दिखावेंगे, बात गई तो जी ही के क्या करेंगे, ऐसी जिन्दगी से तो मौत भली। जो कुछ सेठानी का जेवर था सो सब बेंच अभी चार दिन हुये तिनकौड़ीमल गरीबदास का १५ हजार का सट्टा रख लिया था; मिती पुजने पर ज्यों-त्यों कर दे इज्जत बचाया, अब जेवर भी न रहा, क्योंकर बात रहे।

बरसों तक दिनो रात पढ़ते-पढ़ते आँख कमजोर पड़ गई, चश्मे की हाजत हो गई। "नई जवानी माँझा ढील।" शेखचिल्लियों का-सा मनसूबा गाँठते हैं, अब की बार इम्तिहान से पार हुये तो दूसरे साल वकालत या इंजीनियरिंग के लिये कोशिश करेंगे; अौवल हुये तो तमगा पावेंगे, बड़े-बड़े लायकों में शुमार होगा। इम्तिहान देने गये: फेल हो गये; सब जोश उतर गया, उमंग जाती रही, महीनों तक संसार की किसी बात में मजा नहीं मिलता, मायूसी की हालत में पड़े-पड़े सोया करते हैं, सोखती जाती ही नहीं।

मालूम पड़ने लगी, किसी में कहीं रस नहीं मिलता; जिन्दगी का दिन भरना पड़ा। कौड़ी-कौड़ी जमा करते रहे, पेट भर अन्न न खाया, फटा-पुराना, मैला-कुचैला कपड़ा पहिन किसी तरह तन ढाँप अत्यन्त कदर्यतापूर्वक पारकर लाखों जमा किया, एकान्त में बैठ जब उन रुपयों को गिनता है, आनन्द में मग्न फूला नहीं समाता; अपने में भाग्यमानी की सीमा मानता है। अकस्मात, कोई ऐसा ईश्वर का कोप हुआ कि चोर सेंध लगाय सब धन चुरा ले गये; या कोई दूसरा धक्का लगा कि सब का सब गायब हो गया। उस समय इस कृपण के जी से पूछना चाहिये जिसे यह जगत जीर्ण अरण्य-सा बोध होता है; केवल प्राणमात्र शरीर से जुदा नहीं होता और सब-सब दशा इस कदर्य की हो जाती है।

ऊँचे कुल में जन्म है, सामान्य रीति पर असन-वसन खाना-पीना अच्छी तरह पर निभता जाता है, किसी बात को मोहताजगी नहीं है, परिवार भर में बड़ी साहुत और एका है, बाहर शिष्टाचार में बात सब भाँति बनी है, दस भले आदमियों में कदर है। पण्डित जी, लाला जी, शाह जी, जो हों, समाज में अगुआ सरपञ्च और सिरताज समझे जाते हैं पर घर में स्त्री ऐसी कुकाला, कलहकारिणी, कुभार्या आई कि हवा से लड़ती है, घर भर का नथुनों में प्राण आ लगा। कुनबा भर के आदमियों को तोड़-फोड़ अलग कर दिया ऐसा विद्रोह फैला कि प्रत्येक के मन में गाँठ पड़ गई, जो कुछ एका था कि बँधी मूठी रहने से फूटी-आँजी कोई नहीं जानता था, सण्डश्राद्ध हो गई, सब भरम खुल गया। लाला जी के भीतर की चाट भीतर ही सालती है, जिन्दगी बेमजे हो गई—

सच है—"जन्म नष्टं कुभार्यया।"

"घर के लोगवा यों कहैं मियाँ जियैं यस बरकत है।
मियाँ की गत मियैं जाने साँस लेत जी सरकत है॥"

समय जो प्राण-संकट होता है वह जी ही जानता है, एडिटरी का इतना जोश न जानिये कहाँ विलाय गया, जिन्दगी फीकी मालूम पड़ने लगी। लोग समझते होंगे, पण्डित जी बड़े सुखी हैं, बेहने धुने का काफी से ज्यादह मिलता है, नगावड़ा बैल से बैठे-बैठे पागुर किया करते हैं और ऐंडाते रहते हैं। यह कोई क्या जाने कि यजमानों का ताव सम्हालना कैसी भारी मुहिम है। जिनकी झिड़की और फटकार से बचे रहने की कोशिश जिन्दगी को फीका कर देने के लिये क्या कम तरद्दुद है। इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं, जहाँ तक चाहिये, पल्लवित करते जाइये, चुकेगा नहीं।

नवम्बर १८९२

नाती हैं, पोते हैं, परपोता हुआ, सोने की सीढी चढ़े, बड़भागियों की लिस्ट में अपना भी नाम दर्ज कराये हुये हैं। आज इसकी मँगनी है, कल उसका ब्याह है, लड़की के लड़का हुआ, रोचना आया, अन्ना सजाने की फिकिर हुई, मोहमयी प्रमाद मदिरा के पान से उन्मत्त यह जीर्णजरद्गव सौभाग्य की सीमा माने हुये है, अकस्मात् एक ऐसी हवा बही कि एक-एक कर कुनबा छीजने लगा, दो-चार तरपर ऐसी गमी हुई कि बड़भागी बनने का सब नशा उतर गया, जीवन अपाढ़ समझने लगे।

हमारे वाइसराय गवर्नर जेनरल साहब महाराणी के प्रतिनिधि कुल स्याह सुफेद के मालिक जहाँ जाते हैं, लोग हाथों-हाथ लेते हैं बडी अच्छी कमाई कमा रक्खी है, जिसका फल इस जन्म में भोग रहे हैं। हिन्दुस्तान ऐसे शैतान की आँत से देश का शासन जिसमे सैकड़ों जुदे-जुदे कौम के लोग बसते हैं, किसी बात में जरा चूके, लेव-देव कर ली गई, अखबार वालों को जीट उड़ाने का मौका मिला। हिन्दुस्तानियों का किसी बात मे पक्ष किया, सिविलियनों के चेले पायोनियर ने गुर्राना शुरू किया, उधर विलाइत वाले जुदा ही चाप चढ़ाये हुए हैं, उनके मन की नहीं करते, नालायक समझे जाते हैं। ऐसी-ऐसी कितनी झंझटे उनके लिये तैयार रहती हैं। तब क्योंकर कहा जा सकता है कि उनका जीवन सर्वथा नीरस नहीं है?

हमने समझा था, एडिटरी का काम सब से आराम और स्वच्छन्दता का है, समय पर पत्र निकाल निर्द्वन्द्व हो बैठे रहे। समाज में मान और प्रतिष्ठा के अधिकारी गवर्नमेंट के बड़े-बड़े राजनैतिक विचारों मे राय देने को पाँच सवारों में एक हम भी। एडिटरी का झोंक मे कभी को एँड़ी-बेंड़ी कोई बात लिख मारी, जो सरकारी कानून के खिलाफ पड़ी, या गवर्नमेंट के कर्मचारी हाकिमों की पालिसी उससे दूषित होती है, रिपोर्ट हुई, मैजिस्ट्रेट साहब ने तलब किया। उस

पूछिये फलाने साहब इस तरह की टोपी क्यों देते हैं या इस फैशन के काट का कोट क्यों पहनते हैं, तो लोग हँसकर कहेंगे—"सिड़ी हैं। क्या उन लोगों की टोपी या पगडी उनमे कुछ बुरी है", या बाजे लोग कहेंगे—"साहब, उन्हीं से पूछिये जो ऐसे फैशन की टोपी देते हैं"—अब यदि उन्हीं महाशय से इस फैशन की छिलावट का कुछ अर्थ पूछिये तो निस्सन्देह वे अपनी पसन्द की हुई वजा में कुछ न कुछ भलाई अवश्य बतलावेंगे और सर्व साधारण की टोपी या पोशाक मे यह ऐब है। इसलिये उस दोष के दूर करने को अपने वास्ते मैने यह फैशन रक्खा है।

अब हम एक श्रेणी के लोगों को और उदाहरण मे लेते हैं, और वे ये हैं जो सामान्यतः और सब तरह से अच्छे हैं। पर उनकी किसी एक बात की इतनी ललक है कि हर एक बात मे और हर एक मौके पर अपनी उसी ललक के लिये जान तक देने को मुस्तैद हैं। मान लीजिये, एक महाशय ऐसे हैं कि उन्हें विधवा-विवाह या स्त्री-शिक्षा की धुन बंधी है कोई बात विधवोद्वाह या स्त्री शिक्षा में उन्होंने ऐसी देखी है, कोई गुण इन दोनों मे ऐसा पाया है जिसमें उनकी समझ से हिन्दुस्तान की यावत् बुराइयों का संशोधन हो सकता है। इस लिये हर एक मौके पर अपनी साधारण बातचीत में भी बिना उसके गुण प्रकट किये नहीं रहते। बरबस इस बात में कुछ करके के दिखाने मे उदाहरण बनने को भी उपस्थित हैं। अपनी ताकत भर रुपया खर्च करने में भी न चूकेंगे। यदि उनकी बात सुनिये और उसे अच्छी तरह तौलिये तो सम्भव है कि कोई भद्दी युक्ति उसमे अवश्य पाइयेगा कि जो वे कहते हैं अत्यन्त पुष्टता के साथ कहते हैं जिस मे एक तरह का जोर पाया जाता है। यद्यपि उस बेचारे को इसका कोई खरिया नहीं है कि और लोग भी उसी के समान कोटि के दो जीव पर उसकी बात जो सुनता है, कोई दाद

२५—परिपक्क बुद्धि या पक्का आदमी

दुनियादारी में वे जो चलता-पुरजा कहे जाते हैं, उनमे "पक्का आदमी" ऐसा एक प्रचलित वाक्य है। जिस किसी के लिये यह वाक्य प्रयोग किया जाता है, उसकी यह एक बड़ी तारीफ समझी जाती है, जिसके मतलब यह हुये कि वह मनुष्य संसार के और सब लोगों में किसी बात में किसी से कम नहीं है। यह पदवी उसी को दी जाती है, जो अपने घर गृहस्थी के काम में अच्छी तरह निपुण हो, पुत्र कलत्र, भाई-बन्धु को उसने किसी तरह का क्लेश न पहुँचता हो और बाहरी लोगों के साथ भी हिला-मिला हो। फजूल खर्च न हो, चटोरा न हो, आमदन टॉके-टूक है तो खर्च भी बढा हुआ न हो, जिस बात से अपने को सरोकार नहीं उसमें दाल-भात मे मूसलचन्द न बनता हो। साराश यह कि सदा कामकाजी बातों मे फॅसा रहता हो। संसार मे ऐसे को सब कोई पक्का आदमी इसलिये समझते हैं कि इसने अपना जीवन बहुत अच्छी तरह पार किया।

अब हम एक दरजा आगे बढ़ते हैं। ऐसे लोगों में यदि कोई इस ढङ्ग का हुआ कि ससार के जितने काम जिसको कर्तव्य Duty कहते हैं, करता ही है, किन्तु किसी एक बात मे उसकी विशेष रुचि है अर्थात् उस मुख्य वस्तु में अपनी विशेष रुचि प्रगट करता है, जैसा टोपी या पगड़ी एक नये ढङ्ग की देंगे, कोट एक नए काट-छॉट का पहनेंगे, साधारण बातचीत में भी, विना कुछ मजाक के न बोलेंगे इत्यादि। परिणाम इसका यह होता है कि ऐसे लोग अपने पड़ोसियों में या मित्र-मण्डली में एक लक्ष्य हो जाते हैं। यहाँ तक कि लोग हँसी-दिल्लगी में उसका नाम ही वैसा रख लेते हैं, अर्थात् फलाने फलानी तरह की पगड़ी या टोपीवाले, इत्यादि-इत्यादि। यदि उनसे

स्वच्छन्द और किसी के अधीन नहीं है। सारांश यह कि दुनियादार या लौकिक मनुष्यों से अलौकिक या लोकोत्तर मनुष्य मे जो भेद है उसकी जड़ एक ऐसे भ्रम मे उलझा हुई है जिसका सुलझाना या हल करना असम्भव है। इसी से कवि की यह उक्ति है—

"लोकोत्तराणां चेतांसि कोनुविज्ञतुमर्हति।"

सच पूछिये तो इसके सुलझाने के माने ही यह होंगे कि कि संसार के जो नियम आज तक चले आये हैं, आप उनको उलट कर रख दो। ऐसे लोग जो अन्ध परम्परा से अलग हो लोगों के हजारों ताने सहते हैं और भेड़ियाधसान के बीच बदनाम हैं उनको इस सब का प्रतिफल क्या? इसके उत्तर मे हम यही कहेंगे कि ऐसे मननशील लोकोत्तर महात्माओं के लिये क्या यह कोई थोड़ा लाभ है कि उनके मनन की अविच्छिन्न "धारा मे दुनियादारी के पचड़े मे न फसने के कारण जरा भी विक्षेप नहीं होने पाता। यह क्या कोई लाभ ही नहीं है?

यहाँ तक तो हमने इस विभेद का दुःखात्मक चित्र खींचा। अब आगे बढ़ते हैं। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है वह इसी बात का कि लोकोत्तर और लौकिक मनुष्यों मे जो भेद है वह केवल किसी विशेष कारण से है। अब यदि कोई ऐसा मनुष्य हो जो स्वभाव ही से भोला प्रकृति का है, दुनियादारी के छक्के पंजे नहीं जानता, सब से निराला है, अर्थात् उत्तमोत्तम गुण उस में स्वभाव ही से ऐसे हैं जो उसकी समस्त ज्ञान-इन्द्रियों के प्रधान विषय हैं। मान लीजिये एक मनुष्य ऐसा है जिसको आत्मगौरव का बड़ा ख्याल है, औदार्य उसमें पहले सिरे का है, सहानुभूति, लोगों के साथ हमदर्दी, मैत्री और प्रेम प्राणी मात्र से है। अब आप समझ सकते हैं कि ऐसे एक महात्मा पुरुष की सूक्ष्मानुसंधान करनेवाली विवेचना-शक्ति और अनुभव कितना तीक्ष्ण होगा और सर्वसाधारण के लिये वह कितना सुख-दुःख अनुभव

उसमें नहीं पाता। किन्तु यदि अपने कहने के अनुसार वैसा आचरण भी करने लगा, तो लोग उसको क्या कहेंगे। जब तक खाली बातचीत और जबानी जमाखर्च था तब तक तो लोग बहुत कुछ नहीं समझते थे, पर जब अपने आचरणों मे भी उसने उस उद्योग को उठा लिया तब लोग कहने लगते हैं, "इनको इसमे क्या मतलब था? इस बात के लिये इतना कष्ट उठाने से इनको लाभ क्या?" अस्तु।

यदि ससार का यही क्रम होता कि लोग प्रश्न ही मात्र से सन्तोष कर लेते हैं तो भी कोई हर्ज न था। खेद का विषय यह है कि लोग उसके बारे मे खाली प्रश्न ही नहीं पूछते, वरन् अपनी एक तरह की राय कायम कर लेते हैं और उसका बहुत-सा धन, समय तथा शारीरिक और मानसिक शक्तियों का व्यय होना लोगों के बीच ससार मे सराहना नहीं पाता।

इसके पहले कि हम आगे बढ़ें और एक तीसरी श्रेणी के लोगों के बारे में कुछ लिखें, सामान्य रीति पर हमने जिन लोगों का चित्र खींचा है, उस पर विशेष समालोचना लिखना चाहते हैं। और वह यह है कि यह चित्र उन्हें संसार के सर्वसाधारण लोगों से अलग रखने का एक द्वार है, जिसका कारण यह मालूम होता है कि कुछ लोगों मे सूक्ष्मानुसन्धान करनेवाली विवेचनाशक्ति और अनुभव इतर सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और उत्कृष्ट होता है, जो बात उनमें जो निरे दुनियादार हैं कहीं छू तक नहीं गई, जिसका परिणाम यही होता है कि वे लोग जिनमे सूक्ष्मानुसन्धान की विवेचना-शक्ति तीखी से तीखी है, ऐसे पुरुष संसार से चट अलग हो जाते हैं और सांसारिक लोग भी ऐसे को सिड़ी, सौदाई, बेवकूफ, इन नामों से पुकारने लगते हैं। क्यों उन्हें सिड़ी कहते हैं सो भी हम दरसा चुके हैं कि साधारण लोग उनके उद्देश्य और महत्व को समझ नहीं सकते इसलिये उनके बारे मे मनमानी राय गढ लेते हैं, जिसके गढ़ने मे हर एक आदमी

२६—एकान्त-ज्ञान

एकान्त-ज्ञान वह ज्ञान कहलाता है जिसके द्वारा मनुष्य किसी एकान्त-स्थल में अपनी ठीक दशा को सोच विचार के अपने गुन-अवगुन का आप ही आप वर्णन कर प्रसन्न होता है या दुःख करता है। एक दिन पञ्च महाराज देश-विदेश बहुत दूर-दूर घूमते यमुना के तट पर जा पहुँचे। वहाँ देखा तो एक ज्ञानी पंडित जी पलथी मारे बैठे हैं, जिनके आकार और वेशभूषा से नख से शिख तक भव्यता बरस रही थी। एक कागज हाथ में लिये थे, जिसमें कुछ भजन-सा लिखा था। पण्डित जी उस कागज को पढ़ और अपनी दशा के साथ उसके भावार्थ को मिलाय-मिलाय प्रसन्न और विस्मित-से होते थे। एक अद्भुत अनुराग से पूर्ण हो पण्डित जी कहने लगे—बाबा तुलसी दासजी के पदों में कुछ अनोखा ही रस है, यह भजन तुलसीदास जी के विनय का है। इसमें तो मेरा समस्त जीवन-चरित्र और कुल लक्षण-कुलक्षण भरा है, मानो मेरा जन्म-पत्र-सा लिख डाला हो। मैंने बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ीं, पर अपने शालहोत्रिक चिह्न ऐसे कहीं न पाये। अच्छा एक बार प्रेम से इसे पढ़ तो डालूँ, दुःख-सुख तो लगा ही रहता है। यहाँ तो सन्नाटा है, कोई सुनेगा भी नहीं, न मेरे छिपे हुये कुलक्षणों का सब भेद खुल जाने का डर है।

आ—आ—आ—(मुँह बाय के)

दीनबन्धु सुखसिन्धु कृपाकर कारुणीक रघुराई।
कबहुँ योग रत भोग-निरत शठ हठ वियोग-बश होई।
कबहुँ मोह-बश द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई।
कबहुँ दीन मति हीन रङ्करत कबहुँ भूप अभिमानी।

कर सकता है।

दुनियादार लोग जब उसी को सिड़ी मान लेते हैं जिसमें वस्त्र के पहनाव मे और कोट आदि की काट-छाँट में निराली पसन्द है तब इसे तो महा पागल समझेंगे। क्योंकि उसमें तो वे कोई ऐसी बात पाते ही नहीं जिसके तले तक वे डूब उसको थहा सकें; जैसा अपना लाभ या स्वार्थ-साधन के बदले वे उसमें आत्मत्याग Self-Sacrifice का जोश पाते हैं, केवल अपना ही फायदा देखने के बदले परोपकार की धुन उसे बँधी हुई है, संसार के अनेक सुखों मे अपने को फसाने के एवज विषय-वासना की ओर से उसे घिन है। हमारे यहाँ के योगसूत्र के जो अनक यम-नियम हैं उनका स्वाद ऐसे ही लोग चक्खे हुये हैं। ऐसे ही स्थलों में यह बात स्पष्ट होती है कि जो लोग बुद्धि के ऊँचे शिखर पर चढ हुये हैं उनके चित्त की विमल शांति और परम सुख की दशा यदि किसी से मेल खाती है तो उन्हीं से जो सर्वथा अल्पज्ञ या मूढतम हैं। इसी से यह श्लोक है—

यश्च मूढ़तमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

अगस्त १८९६

बना रहूँ। पर दान-कुदान लेने मे या किसी सुन्दरी रमणी को देख मौत को भी भूल जाता हूँ और इस रमणी-गाथा की सुध आती है।

"भयस्त्वनित्यं यदि शक्तिरस्ति ते दिने-दिने गच्छति नाथ यौवनम्।"

इत्यादि-इत्यादि पशुक्रिया मे तो मैं कूकर-शूकर को भी मात करता हूँ, यद्यपि व्यास जी ने लिखा है—

"ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्त सुखाय च।"

सो यह बात दिहाती-सिहाती किसी गँवार ब्राह्मण के लिये गढ़ दी गई है, जिन्हें जात-पांत का विचार है। यहाँ गुरुओं का शठ मन तो जब चलायमान होता है तब किसी तरह का विचार नहीं रहता और न किसी तरह पर धरे-थाबे रुक सकता है। वियोग की दशा जब सताती है अथवा स्त्री-पुत्र आदि रुचि के अनुकूल स्वार्थसाधन में पक्के न मिले तो यही जी चाहता है कि "सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्"। फिर जब कमाने की कोई युक्ति देख पड़ती है तब यह शठ मन परम-हंसी वृत्ति धारण कर लड़कपन की पढ़ी हुई बालबोध नाम पुस्तक की सुध दिलाता है और लड़कपन में जो क ख ग घ इत्यादि घोख रक्खा है उसका पूरा बर्त्ताव किया चाहता हूँ, यथा (क) जैसे हो तैसे रुपया कमाना दान-कुदान खज्ज-अखज्ज का खयाल निरा गँवारपन है। (ख) दूसरे का खजाना लूट लेना। (ग) गुरुआई छाँटना। (घ) घर फोड़ना। (च) चालाकी से न चूकना। (छ) छलछिद्र में एकता होना। (ज) जालसाजी मे गुरुघंटाल बनना। (झ) झूट सच बात जोड़ने में उस्तादी हासिल करना। (ट) दूसरे का टण्टा जान-बूझ बेसहना। (ठ) दूसरों को ठगना। (ड) दूसरे की थाती डकार जाना। (ढ) धर्म की ढाल आगे रख मतलब गाँठना। (त) तस्करता। (थ) थाती निगल जाना। (द) दुराचार या दम्भ। (ध) धर्मध्वजी। (न) नटखटी में पूरे होना इत्यादि।

कबहुँ मूढ़ पंडित विडम्बरत कबहुँ धर्मरत ज्ञानी।
कबहुँ देखिजग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासे।
संसृति सन्निपात दारुण दुख बिनु हरि कृपा न नासे।
संयम जप तप नेम धर्म व्रत बहु भेषज समुदाई।
'तुलसिदास' भव रोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई।

श्रीगोविन्दायनमो नमः—शुणो भाई! तुलसीदास जी अपने इष्टदेवता रघुनाथ जी से विनय करते हैं। अरे, विनय क्या मेरी शिफारिश करते हैं कि यह बेचारा गरीब पण्डित रामपद प्रेम से हीन है, इसका भवरोग नहीं जाता। ठीक है, जब मुझे अपने घरगृहस्थी की सुध आती है। आगा-पीछा सोचता हूँ तो होश-हवास उड़ जाते हैं कि आगे को सिवाय मेरे कोई सँभालने वाले नहीं, छोटे छोटे लड़के, कच्ची गृहस्थी, दिन भर डाँय-डाँय घूमते हैं, तब किसी तरह पेट पलता है। आधिदैविक. आधिभौतिक, आध्यात्मिक, त्रिविध-ताप से दिन रात झुलस रहे हैं। कभी एक छिन भर के लिये भी शरीर को स्वास्थ्य और मन को विश्राम नहीं मिलता। दोपहर की ऐसी धूप मे इन जेठ-वैशाख के महीनों मे दो घण्टे आदमी की कौन कहे, पखेरू भी एक स्थान में पेड़ की ठण्डी छाया पाय विश्राम करते हैं। पर हम निरे वैशाख नन्दन बन इस जले पेट के कारन चक्र के समान घूमते ही रहते हैं। बिना दस जगह जाये जी नहीं मानता, यह भी एक दैवी कृपणता है कि उसने हमें पङ्ख न दिया, मृग और श्वान के समान शीघ्रगमन की शक्ति हमें न मिली, न गीध की सी दृष्टि हमें दी कि जहाँ कहीं स्वार्थ-साधन की कोई बात देखते, चट जा टूटते। बल-पौरुष नित्य घटता जाता है। एक चपल तृष्णा नित्य टटकी और तरुनाई को न पहुँचती जाती तो मेरा कहीं ठिकाना न लगता, तिस पर भी जब कभी मौत की सुध आता है तब मैं बौराय उठता हूँ और चाहता हूँ कि कोई ऐसा फकीरी लटका हाथ लग जाय कि सदा जवान

बढ़िया पकवान हलुआ पूरी खूब छकने को मिला और इन्द्रियाँ प्रबल पड़ीं तब संसार में सुख का मूल केवल स्त्रियाँ ही देख पड़ती हैं। फिर उस विनय मे यह पद—

"संसृति सन्निपातदारुणदुख बिनु हरि कृपा न नासै।"

सोचने की बात है यह संसार सन्निपातिक महाज्वर के दारुण-दुःख का एक नमूना है। जिस विषय का लोलुप बनता हूँ उसी में छटपटाते हुये कचोट करता हूँ। भला यह दुख बिना हरि की पीयूष प्रवाहिनी कृपा के क्योंकर मिट सकता है जब तक मन-मानता धन न मिले या हंसगामिनी मत्तमदालसा वामलोचना न हो! जनेऊ की दोहाई अनेक जप-तप, संयम-नियम करते-करते थक पड़े, भाँति-भाँति के इलाज किये, खातिर-खाह मतलब न निकला। तुलसीदास बाबा सच कहते हैं कि रामपद प्रेम-हीन इस ब्राह्मण बेचारे का दरिद्र न मिटा न मिटा।

इसके अनन्तर पञ्चमहाराज पहुँचे और कहा पण्डित जी नमस्कार बस नमस्कार-नमस्कार कह पण्डित जी भी उठ खड़े हुये और सारी मानसिक तरङ्ग यमुना की मन्द-मन्द तरङ्गों मे जा मिली और मन मे लजा गये कि इस दुष्ट ने कहीं मेरा गुप्त भेद सब सुन तो नहीं लिया। पाठकजन, समझे एकान्त-ज्ञान क्या वस्तु है? हमारे पण्डित जी एक दृष्टान्तमात्र हैं, संसार के मनुष्यमात्र पर यह सुघटित हो सकता है। किम्बहु?

फरवरी १८९२

जब कभी सतोगुन का उदय होता है तब अपने इन भीतरी पापों को सोचता हूँ और अपने आत्मा की होनहार कुगति पर दया. आती है कि हाय यह सब तो मेरा खयाली पोलाव था। केवल भाव दुष्ट होने के कलङ्क से कलङ्कित अलबत्ता हुआ और नफा कुछ न उठाया, पर, इसके कारन परलोक मे यमदूतों के लोहदण्ड अवश्य भुगतना होगा। जब कभी मेरे कुलच्छन सब खुल गये और हरमजदगी के कारन कहीं से निकाले गये तो मूढ़ नासमझ बन गये और अधिक चपकुलिश मे आये तो गिड़गिडाय ब्राह्मण बन माफी पाने का मुस्तहक अपने को साबित कर दिखाया। जब देखा कि सीधी अँगुली घी नहीं निकलता और स्वार्थसाधन नहीं बन पड़ता तब विडंबना फैलाते हैं। तुम्हारे पुत्र का व्याह अमुक कुलीन धनवान की लड़की से करा देंगे हमारा तुम्हारा बादरायण सम्बन्ध है; हम अमुक प्रसङ्ग में आपके साथी और सहायक हुये थे।

तुलसीदासजी के विनय मे "कबहुँ धर्मरत ज्ञानी" हमारे बड़े ही काम का है। हम तो एक धर्म ही को आड़ किये हैं, यह धर्म ही सब के साथ जायगा, इसी से हम तन मन धन सब धर्म ही मे लगाये रखते हैं। इससे दो प्रकार के लाभ हैं—एक तो स्वर्गभोग की कामना शायद परलोक में कुछ होता हो तो सहायता मिलेगी। दूसरा लाभ यह है कि संसार के सब लोग धर्माचरण मे प्रवृत्त देख के अच्छा समझते हैं और विशेष दान मान मिलता है। जब कभी वेदान्ती यजमानों से काम पड़ता है तब "चिदानन्दरूपः शिवोहम्"—ब्रह्मास्मि ब्रह्मास्मि की रट लगा देते हैं। बहुधा जब देखता हूँ कि संसार धन से भरा हुआ है तब अपने मित्र लोग से क्या-क्या सलाह नहीं लेता। जब मेरा कहा कोई नहीं मानते तब वे मुझे शत्रुरूप देख पड़ते हैं। बाबा तुलसीदास का यह कहना भी कि "कबहुँ नारिमय भासे" बहुत ठीक है। जब दूध-मलाई और यजमानों के घर से घी के तले बढ़िया-

गिड़गिड़ाता हुआ धीमी आवाज से बोला—मैं आपका नाम जानना चाहता हूँ, वर्णमाला के किस-किस अक्षरों को वह सुशोभित करता है।

उसने कहा—मेरे कई एक नाम हैं। भिन्न-भिन्न समाज और संप्रदायवालों ने अपने अपने ढंग पर अपनी पसन्द और रुचि के अनुकूल मेरा नाम धरा रक्खा है; किन्तु साधारण रीति पर सब लोग मुझे सिद्धार्थक कह कर पुकारते हैं।

इतने में गाड़ी अपने ठिकाने पहुँच गई; दोनो उतरे। अपने नौकरों मे से एक को इसने इशारे से बुला कर कहा—देखो बाबू साहब को किसी तरह की तकलीफ न होने पावे। यह तो कोठी भीतर चला गया। नौकर अपनी जात की कमीनगी के मुताबिक जैसा इन लोगों का दस्तूर होता है कि मालिक की आँख के सामने सब कुछ, मालिक आँख की ओट में हुआ कि हाहा-ठीठी टाल-बटाल। खास कर जब उनको इसका कुछ पता नहीं लगता। बुद्धिमानों ने इस विषय मे भाँति भाँति के अनुमान किये हैं और अकिल भिड़ाया है सही; पर ठीक ऐसा ही है यह निश्चय किसी को न हुआ। सच तो यों है जब तक यह प्रवाह अपने पूर्ण वेग से चला जाता है तभी तक कुशल है। जरा-सा मन्द पड़ा या एक निमेप मात्र को भी रुका कि क़यामत या प्रलय का सामान जुट जाते देर नहीं लगती। योगाभ्यासी तथा वेदान्ती मन को मार शान्ति शान्ति पुकारते हैं यह नहीं विचारते कि जगत् के प्रवाह मे पड़े हुए को शान्ति कहाँ? जमशेद, दारा, सिकन्दर से प्रबल प्रतापियों की कौन कहे, राम, युधिष्ठिर सरीखे जो अंशावतार माने गये हैं, जगत् के प्रवाह में पड़ उनका भी कहीं ठिकाना न लगा। प्रातः कालीन गगन-मंडल के एक देश में नक्षत्र-समूह-सदृश थोड़े समय तक जगमगाते हुए इस प्रवाह में पड़ न मालूम कहाँ विलाय गये।

यह प्रवाह ऐसा प्रचण्ड है कि एक-दो मनुष्य की क्या, देश के देश को अपनी एक लहर मे बटोर न जाने कहाँ ले जा फेंकता है—

२७—जगत्-प्रवाह

वेग-गामी झरने, नदियाँ, समुद्र इत्यादि का प्रवाह रुक जा सकता है; प्रद्योतित बुद्धि के नई अकिल वाले इस समय के विज्ञानियों ने अनेक ऐसे यंत्र, औजार और कलें ईजाद की हैं, जिसके द्वारा वे तीखी सी तीखी धाराओं के प्रवाह को रोक दे सकते हैं या उसके प्रवाह को उलट दे सकते हैं। किन्तु आज तक ऐसा कोई बुद्धिमान् न हुआ जो जगत् के प्रवाह को रोक देता या उसे एक ओर से दूसरी ओर को पलट देता। चौकसी के साथ अनुसन्धान करते रहो तो पता लग जाता है कि अमुक नदी या झरने के प्रवाह का प्रारम्भ कहाँ से कब से है और कब तक रहेगा। पर जगत् के प्रवाह का प्रारम्भ कब से है, कहाँ से है और कब तक रहेगा, ख्याल सही नहीं है—माफ कीजिये बेअ-दबी होती है। साहब, जिसे आप मान, आत्मगौरव और धर्माचरण कहते हैं वह भी रुपये के लिये है और रुपये से सधता है। बड़े से बड़े मनस्वी तपस्वी संयमी न्यायशील सब रुपये के लिये तपस्या इत्यादि से हाथ धो बैठते हैं। मैंने बड़े-बड़े तपस्वी और मनस्वियों को अज-माया, रुपया देख सब फिसल गये। इसी के लिये बाप-बेटों में चल जाती है, भाई-भाई कट मरते हैं। उस रुपये की कमी हमको नहीं है; ज्यों-ज्यों आपका पिष्टपिष्ट मेरे साथ बढ़ता जायगा, आप जानोगे कि मैं कौन हूँ, मेरा इतिहास किस प्रकार का है।

वृन्दावन इसकी ये बातें सुन अचंभे मे आया। थोड़ी देर तक सोचता रहा कि यह तो कोई अद्भुत पुरुष है, मेरे मित्र ने क्या समझ इसे मेरे पास भेजा। यद्यपि वृन्दावन को अपनी लियाकत का कुछ कम घमंड न था, किन्तु इस समय यह उसके रोब में आगया और

तत्र राग, द्वेष, वैर, फूट, ईर्ष्या, द्रोह, हिंसा, पैशुन्य, विषयलंपटता, चित्त की क्षुद्रता और कदर्यता बढ़ती है। काल-चक्र की वक्र गति हिन्दुस्तान में उसी तमोगुण को प्रवाहित कर रही है जिसे अवनति, तनज्जुली, घटती, जघन्यता, पराधीनता, बिगाड़ चाहे जिस नाम से पुकारो तुम्हें अधिकार है। उनकी तो बात ही और है जो इसमें पगे हुये इसी को बड़ा भारी सुख मान रहे हैं। नहीं तो नरक के प्राणी भी हम ऐसों के पराधीन निकृष्ट जीवन से अधिक श्रेष्ठ और सुखी हैं। यहाँ पर हमारे एक प्रिय मित्र का कहना हमें याद आता है जिनका सिद्धान्त है कि मरने के बाद रूह को फिर जन्म लेना पड़ता है। यह खयाल सच है तो हिन्दुस्तान के नारकिक समाज के बीच नरक भूमि में जन्म ले पराधीन जीवन से सहारा के रेगिस्तान में भी स्वच्छन्द जीवन अच्छा। भागवत के उस श्लोक का लिखने वाला हमें इस समय मिलता तो कम से कम गिन के तीन गहरी चपत उसे जमाते, जिसने लिखा है कि स्वर्ग में देवगण भी सोचते हैं और इस बात के लिये तरसते हैं कि भारत की कर्म-भूमि में किसी तरह एक बार हमारा जन्म होता तो हम अपने जन्म को सफल करते। बड़े नामी लेखक जिन्होंने इस प्रवाह के अन्तर्गत किसी बुराई के संशोधन के लिये हजारों पेज लिख डाला प्रसिद्ध वक्ता जिन्होंने चाहा कि हम एक छोर से दूसरे तक अपनी मेघ गंभीर वक्तृता और वाज से उन बुराइयों को उच्छिन्न कर दें। पर उनका वह परिश्रम उस प्रबल प्रवाह सागर में एक बिन्दु भी न हुआ और उस उनके लेख और वक्तृता का अणुमात्र भी कहीं असर न देखा गया; हमने बहुत चाहा कि बाल-विवाह कुरीत को अपने बीच से हटा दें। कोई अंक ऐसा नहीं जाता जिसमें दो-एक मजबूत धक्के इस कुरीत के प्रबल प्रवाह को न देते हों, किन्तु एक आदमी को भी अपने पन्थ में न ला सके। प्रकृति के नियमों में कुछ ऐसी मोहिनी

जहाँ कई करोड़ मनुष्य बसते थे, जहाँ के लोग मनुष्य-जाति के सिर-मौर थे, जो देश सभ्यता की सीमा था, वह इस प्रचंड जगत्-प्रवाह मे पड़ ऐसा अस्त हुआ कि उसकी पुरानी बातें किस्से-कहानियों का मजमून और चण्डूबाजों की गप्पें हो गईं और जगत् का प्रवाह जैसे का तैसा बना ही रहा। प्राचीन भारत, प्राचीन पारस, प्राचीन यूनान, प्राचीन रोम, इसके निदर्शन हैं। इस प्रवाह मे पड़ा हुआ जिसे जो सवार है वह अपने गीत गाये जाता है, अपने स्थिर निश्चय और उत्साह से जरा मुँह नहीं मोड़ता।

पुराने आर्यों ने इस प्रवाह को त्रिगुण विभाग माना है। जहाँ जिस भूभाग में जब इस प्रवाह का वेग सीधा और मनुष्य-जाति के अनुकूल रहा, प्रकृति के सब काम जब तक स्वभावअनुसार होते रहे तब तक वहाँ सतयुग या सतोगुण का उदय रहा। वहाँ के स्थावर जंगम सजिंत पदार्थ मात्र मे सात्विक भाव का प्रकाश रहा। प्रत्येक मनुष्य यावत् अभ्युदय और स्वर्ग सुख का अनुभव करते हुये कृतकृत्य पूर्णकाम और आप्तकाम रहे। किसी अंश मे कहीं पर से किसी तरह की किसी को त्रुटि का नाम न रहा।

"कृतकृत्याप्रजाजात्यातस्मात्कृतयुगं विदुः।"

इसी को उन्नति, तरक्की, सभ्यता, उदार भाव, स्वतंत्रता जो चाहो सो कहो।

भारत मे न जाने कै वार उस प्रवाह की प्रेरणा से चक्रवत् पलटा खाते सतोगुण का उदय हो चुका है। सतोगुण मे क्रम क्रम हानि और घटती का होना ही रजोगुण है, जिसके प्रादुर्भाव मे प्रमाद, आलस्य, तृष्णा, स्वार्थ, पर दृष्टि, हिंसा, अपने और पराये की निरख, बहुत विषम भाव आदि बढ़ जाता है। बिलाइत में इन दिनों रजोगुण बहुत ही बढ़ा -चढा है, बल्कि युग-सन्ध्या के क्रम पर तमोगुण की तरक्की होती जाती है। वह प्रवाह जब तमोगुण के साथ टकराता है

२८--नये तरह का जनून

थोड़े दिनों से हमारे मुल्क में नये तरह का जनून पैदा हो गया है और इन जनूनियों की संख्या अब इतनी अधिक होगई है कि इनका एक फिरका होता जाता है। अँगरेजी तालीम के साथ ही साथ यह उपज खड़ा हुआ है और इस जनून का नाम संशोधन या 'रिफारमेशन" है।

इसका सब से जियादह जनून एडिटरों को होता है, जो दीवानों की तरह जो मन आया सो बका किये, कोई चाहो मानो, चाहो न मानो, कुछ उसका असर हो या न हो, जो सिर सवार हुई सो हुई। शुभचिन्तक लोग कितना ही मना करते हैं कि सूअरों के सामने अपना कीमती मोती न फेंको; इन्होंने राडो के भाँति जो एक चरखा शुरू किया, ओटते ही जाते हैं; कब किसी की सुनते हैं। यह जनून आर्यसमाजियों को भी किसी से कुछ कम नहीं है, कोई कितना ही कहे इन्हें जो झकक सवार है जो कभी उतरे ही गी नहीं कि वेद अपौरुपेय और स्वतःप्रमाण हैं, पुराण सब गप्प हैं, वेद में यावत् साइंस और विज्ञान सब उसकी नस-नस में भरे हैं। यों तो पेटारथू न जानिये कितने जनूनिये प्रीचर और उपदेशक के नाम से प्रसिद्ध हैं, कौन उन की सुने। जैसे किसी को गोरक्षा का जनून सवार है। कोई टेम्परेन्स को यावत् संशोधन का हेतु मानता है। किसी को औरतों की तालीम सवार है। कोई विधवाओं के विवाह के नशे में गड़गाप है। हम अपना एक निराली ही तान गा रहे हैं कि कमसिनी का ब्याह मुल्क से उठा दिया जाय, बस, देश उन्नति के शिखर पर एकबारगी छलांग मार उछलकर चढ़ जाय। किसी सत्यानाशी को विलाइत यात्रा सवार है। किसी ने होटलों में बैठ

शक्ति है कि कोई कितना ही इस प्रवाह से बचा चाहे, नहीं बच सकता। सच है—

आदित्यस्य गतागतै रहरहः संक्षीयते जीवितम्,
व्यापारैर्बहुकार्य भार गुरुभिः कालोपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वाजन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्त भूतं जगत्॥

सूर्य देव के प्रति दिन उदय और अस्त से आयुष्य घटती जाती है। कार्य के बोझ से लदे हुये अनेक व्यापार मे व्यापृत, वारवार जन्म लेना, बुढ़ा जाना, अनेक प्रकार की विपत्ति और मरण देख किसी को त्रास नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संपूर्ण जगत् उन्मत्त हो रहा है। इस तरह के महाप्रवाह पूर्ण भव-सागर के पार होने को धैर्य एक मात्र उत्तम उपाय है। सच है "धीरज धरै सो उतरै पारा" और भी भारत के वनपर्व मे इस जनन-मरन महा नदी के प्रवाह का बहुत उत्तम रूपक दर्साय धैर्य को नौका-रूप एक मात्र अवलंब निश्चय किया है, यथा—

कामलोभग्रहाकीर्णां पंचेंद्रिय जलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्म दुर्गाणि सन्तर॥

भाँति-भाँति की कामना और लोभ, नक्र, मक्र पूर्ण पाँच इंद्रियों के विषय जिस नदी का जल रूप प्रवाह है उसके पार जाना चाहे तो धैर्य की नौका पर चढ़ फिर फिर जनन-मरन के क्लेश से छूट सकता है।

अप्रैल १८९७

से है। ऐसे ऐसे हजारों किस्म के कारखाने इङ्गलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और वेलजियम वालों के हैं।

वही हम हैं जिन्हें लड़की-लड़कों के ब्याह से इतनी फुरसत नहीं मिलती कि दूसरा काम करें। बस, इसी के लिये जन्मे हैं कि गन्दी सृष्टि बढ़ाते ही जाँय। औलाद को तालीम वगैरह की तो चर्चा ही क्या? उनके लिये पेट भर अन्न न मुहैया कर सकें बला से। तन ढापने को कपड़ा न सम्पादन कर सके, कोई हर्ज नहीं। सन्तान को कुँवारा न रहने दें, जिसमें सृष्टि बढ़ती रहे और अनुत्साही मुर्दा दिल निष्पुरुषार्थियों का दल जुड़ता जाय। हजार मेहनत-मशक्कत के बाद स्त्री पुत्र को अन्न-वस्त्र से सन्तुष्ट रखना और काम-काज में डेढ़ बीते की नाक न कटने पावे। जहाँ सपूती का जोर है, वहाँ सशोधकों को अपना व्यर्थ सिर पचाना जनून नहीं तो और क्या कहा जाय?

अँगरेजी राज्य के इस कड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिये गये हैं कि हिल नहीं सकते, आमदनी का कोई द्वार खुला न रह गया। यावद्वस्तु की गिरानी से खर्च इतना बढ़ गया कि किसी तरह पेट भर अन्न मिलता जाय, रूखी-सूखी खाकर बाल-बच्चों को पाल सकें, मानों समस्त सपूती का निचोड़ आ गया। ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब अब कब चेतेंगे? दूसरे यह कि गवर्नमेण्ट के कानून की जाग्रत ज्योति सोलहो कला पूर्ण जगमगा रही है। न्याय और इनसाफ सब के लिये एक-सा खुला है। शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हैं। किसी पर किसी का अन्याय और अत्याचार नहीं चल सकता। एक-एक आदमी आजाद और स्वच्छन्द है। ऐसा सुभीता पाकर जब हमने न कुछ किया तब सिवा इसके और क्या कहा जाय कि हमारी बराबर परलड कौम दूसरी कोई नहीं है। आगे कदम बढ़ाने को कौन कहे, ऐसी-ऐसी सामाजिक और मजहबी कैदें पीछे लगा दी गई हैं जिनका परिणाम ईर्ष्या-द्रोह, लड़ाई-

अँगरेजों का जूठा खाने ही में मुल्क को आजाद करने का उपाय सोच रक्खा है। किसी का औरतों की परदेदारी शिकस्त करने पर कस्द है। कितने नराधम ऐसे भी उपज खड़े हुये हैं जिन्होंने संशोधन ही को अपने लिये रोटी कमाने की एक हिकमत मान रक्खा है। किसी समाज या कमेटी के सेक्रेटरी अथवा मैनेजर बन चन्दा उगाह-उगाह निगलते रहे। न जानिये कै हजार रुपये पचै डाले और डकार तक न आई।

"अगस्त्यं कुम्भकरणं च भीमं च वडवानलम्।"

कांग्रेसवालों का जनून सबसे अधिक असाध्यरोग है; जिसके दूर होने का कोई उपाय हुई नहीं। कर्मचारियों ने हजार सिर धुना कि इस विषवृक्ष की जड़ उखाड़ डालें, पर यह दिनदिन पुष्ट पड़ता जाता है और अब तो अजर-अमर होगया।

महात्मा ईसा का कहना है कि हमने बाँसुरी बजाई तुम न नाचे। इन जुदी-जुदी धुनवाले संशोधकों का दल इकट्ठा किया जाय तो कई लाख आदमी निकलेंगे जो अपने-अपने जनून को पूरा करने में तन-मन से तत्पर हैं। कोई दूसरा देश होता तो अब तक न जानिये क्या हो जाता। यहाँ—

"भैंस के आगे बीन बाजै भैंस खड़ी पगुराय।"

जो चाहे सो हो, इन्हें पागुर करने से काम। जिसने मुँह चीरा है, झख मारैगा खाने को दे ही गा।

"जान को देत सुजान को देत अजान को देत सो तोहू को दै है।"

एक वह कौम है कि साधारण से सुई और दियासलाई के कारखाने वाले करोड़पति हैं, साल में लाखों कमाते हैं। स्याही का कारीगर स्टीफेन की ओर से एक हजार माहवारी तनखाह के कई आदमी नौकर हो खाली इस लिये भेजे गये हैं कि ये लोग शहर-शहर घूम इस बात की जाँच करते रहें कि उनकी पेटेंट स्याही की नकल कोई न बनाने पावे; नजानिये कै लाख साल की आमदनी एक स्याही के कारखाने

हमें तो यही जान पड़ता है कि हमारे देश मे संशोधन केवल सपने में बर्राने के समान है। कोई कितना ही सिर खाली करे, होना-जाना कुछ नहीं है। इसीलिये हम कहते हैं, हमारे देश में एक नये तरह का जनून पैदा हो गया है।

नवम्बर १८९२

झगड़ा और आपस की फूट के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता; जिससे कौमीयत या जातीयता का भाव हमारे मे कभी आ ही नहीं सकता। अच्छी तरह जो गवाही दे रहा है कि अमुक बात हमारे समाज मे बड़ी बुराई की है, उठा दी जाय तो सिवा फायदे के कभी नुकसान हुई नहीं। पर मौका आने पर हम तुम्हारा मुँह देख रहे हैं, तुम हमारा। इतनी हिम्मत नहीं है कि राह दिखलाने वाले अगुवा बन उस बुराई को तोड़ सकें। मसल है—

"और को लुखरी सगुन बतावे, आप कुत्तों से चिथावे।"

पढ़े-लिखे बड़े आली दिमाग काम पड़े तो कहो ऐसा लेक्चर झारें कि पक्के घंटे भर बाद दम लें, किन्तु समय पर लेक्चर में कही हुई बात को करके दिखाय देने में दुम दबाय कोसों दूर भागेगे। करते आप हैं पर उस भूल का दोष किस्मत, होनहार या संस्कार को देते हैं।

परम सुन्दरी कन्या साक्षात् देवी की मूर्ति जिसकी कीमत दस हजार से कम नहीं हो सकती। उसके योग्य लड़का भी पढ़ा-लिखा, सुशील, खुशनसीब सब तरह पर उपयुक्त है। पर नाड़ी वर्ग न बना, शादी फिस्स कर दी गई। या बना भी तो हाड़ अच्छा नहीं है, सम्बन्ध नहीं हो सकता। हाड़ का अच्छा, महा उजड्ड, छत्तीसों गुन बनता भी है, उस रूपवती सुन्दरी के साथ व्याह दिया गया। व्याह के महीने भर बाद लड़का यमलोक का बटोही हो गया। अब इस समय सस्कार और किस्मत को दोष दे सिर धुनते हैं। अपनी भूल को कभी एक बार भी न पछतायेंगे; न अपने गन्दे समाज को कुछ दोष देंगे। कितने ऐसे सामाजिक काम हैं जो केवल स्त्रियों ही के अधीन हैं और स्त्रियों की जैसी हीन दशा हमारे देश मे है वह विदित ही है। ये सशोधक लोग बाहर चाहे जितना जोश और जनून दिखलावें, घर के भीतर इनके उपदेश वक्तृता की गन्ध भी नहीं पहुँचने पाती। तस्मात्

जनूनी, सौदाई, दीवाना, महा घिनौना, असभ्य, बेवकूफ, गाउदी कहलाता हुआ इस घृणित लोक-रंजना से छुटकारा रहे वह अच्छा। किंतु साक्षात् दंभ के पूर्णावतार बनकर महामहोपाध्याय, षट्शास्त्री, सिद्धेश्वर, योगी होना अच्छा नहीं।

बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि लौकिक से अपने को छुटते न देख लोग दीवाने, सौदाई, महा मैले और घिनौने बन गये हैं। राजा सगर के पुत्र असमंजस, ऋषभदेव, दत्तात्रेय आदि महात्माओं की पुरातन कथाओं का वास्तविक भावार्थ इस लोक-रञ्जना से छुटकारा पाने ही का है। सच तो यों है कि हम इस लोक-एषणा के लिये जो इतनी चेष्टा करते हैं, सो इसका यही प्रयोजन है कि समाज में हमारी सुर्खरूई रहे, कुल की कान निभती जाय, कोई नाम न धरे। जो इस लोक-लाज को न डरा, जिसने बेशर्मी का जामा पहिन लिया, उसे इस लौकिक से सरोकार ही न रहा। खोजते-खोजते ऐसे दो ही पाये गये, एक तो वे जो तर्क दुनिया-सिद्ध और महात्माओं मे शामिल हैं; दूसरे दिवाल-दारिये। इन दिवालियों को भी हम उन सिद्धों से कुछ कम नहीं समझते; क्योंकि इज्जत, आबरू या मोती की सी आब उतर जाने का ख्याल, जिस पर लोक-एषणा का सतखण्डा महल बना हुआ है, दिवाले के साथ ही साथ निकल भागता है।

हम ऊपर कह आये हैं, शुद्ध पारलौकिक कामों को भी लोक-रञ्जना ने अपने जाल में फँसा रक्खा है। आप इस समय राजा बलि-से महादानी कलियुग के कर्ण बन पुश्तहापुश्त का संचित धन बहाये देते हो और "मैं बड़ा उदार दानी हूँ", इस भावना से दिमाग में फूले नहीं समाते, पर सोचिये तो सही कि शुद्ध परमार्थ के खयाल से किसी काम में किसी को आपने कभी एक पैसा भी दिया है? जिन्हें भारी-भरकम चेहरे-मुहरे से दुरुस्त मोटे-ताजे, हट्टे-कट्टे देखा उन्हें आपने भी उलचना आरम्भ कर दिया। इसलिये कि यहाँ तो यह लौ

२६ - लोक-एषणा

यह लोक-एषणा या लोक-रंजन ऐसी बला है कि कैसे ही आप चोखे से चोखे सच कहनेवाले या सच्चा वर्त्ताव रखनेवाले हों कुछ न कुछ बनावट किये बिना चली नहीं सकता। हाँ, विरक्त बन केवल फल-फूल, कन्दमूल, शाकाहार से निर्वाह कर जनसमाज से दूर रह, कहीं निर्जन बन में जा बसिये तो अलबत्ता संभव है कि इस घृणित लोक-रजना या दुनियासाजी से कदाचित् बचे रह सकते हो। किन्तु आदमियों के दंगल में बस आप का शुद्ध अलौकिक चोखा होना—शहनाई का बजाना और चने का चबाना है। बुद्धिमानों ने जिसे शुद्ध परमार्थिक और निरा अलौकिक निश्चय कर रक्खा है, लौकिक या लोक-रंजन उसमे भी जा घुसा और यहाँ तक उसे बिगाड़ डाला कि शुद्ध परमार्थ की उसमे कहीं महक भी न बच रही। दंभदेव की व्यापक शक्ति को साष्टाग प्रणाम है, जिसके जाल में बडे-बड़े विरक्त और मुक्त भी फँसे हुये काठ की पुतली से नाच रहे हैं। कभी को ऐसा भी होता है—मौन रहना, जटा रखाना, तिलक और मुद्रा से देह भर चीत डालना आदि, ढकोसले जो अलग-अलग दंभ के एक-एक प्रकार हैं, ईश्वर सानुकूल हुआ तो जीविका और पेट पालने के द्वार हो जाते हैं। कभी को अजितेन्द्रियों को नहीं भी होते—

"मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परम पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत नवाऽत्रतु दांभिकानम्॥

हम तो यही कहेंगे कि जो इस दुनियासाजी के जाल मे नहीं फँसा वही बड़ा ज्ञानी, बड़ा तपस्वी, बड़ा संयमी, श्रद्धालु, भक्त, और जीवन मुक्त है। इससे छुटकारा पाना ही योगीश्वरों की सिद्धियाँ हैं। पागल,

हमारे पढ़ने वालों में से जिन्हें इसमे कुछ प्रतिकूल हुआ हो, माफ करें, क्योंकि हम पहले ही लिख आये हैं कि लोक में रह, लोक-रञ्जना से बचे रहना असंभव है। जल में रह मगर से विरोध कहाँ का न्याय है।

नवम्बर १६००

लगी है कि इसे देंगे तो यह चार भले मानुसों के बीच जो रियासत की नाक थाँमे हुये हैं, बैठता है, वहाँ जाकर हमारा नाम करेगा। अब बतलाइये दान की वह बात कहाँ रही कि जिसे तुम्हारा दाहिना हाथ दे उसे बायाँ हाथ न जाने।

अब और दूसरे विषय को लीजिये। आप बड़े नैष्ठिक और श्रोत्रिय हैं; त्रिकाल-सन्ध्या, गंगा-स्नान, बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, सब भरपूर निबाहते हैं, पर जी से यह सब इसलिये है कि बड़े रईस, राजा, महाराज आ फँसें और हम उन्हें अपना चेला मूड़ गुरू बन खूब पुजावें। हम काशी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, अयोध्या आदि स्थानों को बार-बार असीसते हैं कि भला इस नई सभ्यता के जमाने में दंभदेव को करावलम्ब तो दिये हैं। दंभ का रूप विस्तारपूर्वक जानना चाहते हो तो प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक निकाल के पढ़ो। अब रहो भक्ति और श्रद्धा की बात सो उन दोनों की निवास-भूमि ८४ कोस ब्रज में जा के देखिये, चित्त प्रसन्न हो जायगा और यही जी चाहेगा कि हम भी ब्रजभूमि में क्यों न पैदा हुये कि कृष्ण भगवान् की लीला का अनुभव करते हुये अहर्निश आमोद-प्रमोद किया करते—

"परस्परं भोज्यमहर्निशं रतिः स्त्रीभिः समं पानमनन्त सौहृदम्।
श्रीगोकुलेशार्पितचेतसां नृणां रीतिः परा सुन्दरि लारवेदिनाम्"॥

हमारे पढ़नेवाले समझते होंगे, यह ता बड़ा ही आजाद भूरी सुनाने वाला, मुँहफट है; बड़ा देश का हित चाहने वाला है। यह कोई क्या जाने, यहाँ देश को भार में झोंके बैठे हैं, लोकरञ्जना तो हमारा सिद्धान्त हो रहा है। मन में यही भावना लगी है कि हमारे लेख से लोग रीझें, ग्राहक बढ़ें, टेंट गरम हो। पर किस्मत की कमनसीबी, हिन्दी के दुर्दिन और हिन्दू-समाज की विद्वत्ता को कहाँ तक सराहें; २३ वर्ष बीत गये, ललाते ही रहे। हत्तेरी लोक-रञ्जना चण्डालिनी की। इसीसे उसमें घिनाय आज हमने उसी को घर दाबा।

महर करते हुये अपने कलुषित-चरित्र की छिपी-सी-छिपी गन्ध से उस मधुप को महीनों के लिये अपना पाहुना बनाने को प्रस्तुत हैं। उधर वहाँ की केतकी, सेवती, मालती, चमेली अलग ही हवा में झोंके लेती इशारे से उसे निमन्त्रित कर रही हैं। मधुप पहले तो बड़े चाव से वहाँ विराम करता रहा और यही आशा लगाये था कि इन गुलाब-केवड़ों की सौरभ का मनमानता स्वाद उसे मिलेगा; किन्तु बहुत ही जल्द इससे निराश हो जाना पड़ा। सच है—

"सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्।"

"सोना परखै कसे आदमी परखै बसे।"

बल्कि, इस आशा-भङ्ग की उसे असह्य वेदना सहनी पड़ी और यह कहावत याद आई—"ऊँची दूकान के फीके पकवान होते हैं।" पछताते हुए भाँति-भाँति की कल्पनाएँ और अनेक तरह के विचार इसके मन में उठने लगे कि ईश्वर ही रक्षक है; जो यही दशा है तो कै दिन इस ऊँची दूकान का ऊँचापन निभ सकता है। अस्तु, मधुप को तो अपना काम साधने से प्रयोजन था। जैसी उसे शिक्षा मिली थी, उसी के अनुसार गुलाब और उसके परिकरों की लीला का अनुभव करने लगा। उन परिकरगणों में एक उसे वहाँ देख पड़ा जो उस्तादी, सयानेपन और मक्कारी में अपने साथियों में सबों के कान काटे था। उमर ४० के ऊपर डाँक गया था, पर हुस्न और वजेदारी में अपने को १८ वर्ष का गभरू जवान माने हुये था। इसे अपने हुस्न का गरूर कुछ उचित भी मालूम होता था, क्योंकि उमर इसकी इतनी धँस गई थी सही, पर सिर के बाल कहीं एक भी सुफेद न हुये थे। इसके गोरे चेहरे पर गुलाल की लाल बिन्दी बहुत ही भली लगती थी। मोटे ओठों पर पान की ललाई विद्रुम की आभा और कुन्द की कलियों से उतार चढ़ावदार दाँतों की दोनों पाँत मानो मोतियों की दो लड़ियाँ थीं। चेष्टा और आकार से तो यह कोई ऊँची जाति का

३०---मधुप

मधुप ! तेरे लिये सब संसार भर ऐसी रमणीक और मन लुभाने वाली वाटिका है कि इसमें घूम-घूम तू हर तरह के मकरन्द का स्वाद लेता हुआ स्वच्छन्द विहार कर सकता है। पर देख—खबरदार सावधानी रखना, केवल मकरन्द के पान से काम रखना। तुझे क्या पड़ी है कि किसी तरह की छेड़छाड़ कर या अपनी राय जाहिर कर कि उस बगीचे की फलानी क्यारी के फूल भले या बुरे हैं। हाँ, वहाँ तुझे बहुत से कटीले वृक्ष भी मिलेंगे जहाँ तुझे सर्वाङ्ग कंटक-विद्ध हो जाने की संभावना है। तो तुझे क्या प्रयोजन कि उन कटीले पेड़ों से अधिक घिष्ट-पिष्ट कर अपने को दुखी बनावे। अच्छा तो अब तू जा, तेरा सब भाँति मङ्गल और स्वस्ति हो—

"वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितस्समागमः।"

अपने काम में भरपूर चालाक और सयाना यह मधुप बिदा हो पहले-पहल इस वाटिका की एक ऐसी क्यारी में जा पड़ा जहाँ के फूलों की मीठी और तीखी सुवास इसके मन को महीनों और बरसों से लुभा रही थी। क्यारी क्या वल्कि यह एक पूरा गाटे का गाटा था और इस मनोहर वाटिका के बीचो बीच मे था। कहने को तो यह एक ही गाटा था, पर उसमें कई-एक जुदी-जुदी क्यारियाँ कर दी गई थीं। और इनमे ऐसे-ऐसे गुल खिले हुये थे जिनकी सुवास मधुप को महीनों बिलमा रखने को काफी थी।

मधुप बड़ी देर तक इसी असमञ्जस मे पड़ा हुआ था कि पहले इनमें किस ओर झुके और किस अनोखे मकरन्द का पान करें। थोड़ा संकल्प-विकल्प और ऊहा-पोह के उपरान्त यह एक ओर झुक पड़ा और देखा तो वहाँ के मदमाते गुलाब केवड़े निराले ढङ्ग पर महर-

अभी दो-एक बड़े जोर की कुज्झटिका और आया चाहती हैं। भाग्य-हीन की समृद्धि के सदृश अष्टमी का चन्द्रमा अस्त होने पर था। इधर-उधर बिखरी श्वेत-कृष्ण मेघ-माला में सौदामनी क्रोधित कामिनी-सी लौक रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। केवल नव वारि समागन प्रफुल्ल भेकमण्डली नाऊ की बरात के समान सब अलग अलग ठाकुर बने हुये टर-टर करते कानों की चैलियाँ उड़ाये डालते थे। इसी समय किसी ने आय कुंडी खटखटाई। पूरन जो दिन को चाहो कहीं रहे रात को जरूर उसे वहाँ रहना पड़ता था, ऊँघता हुआ आया और किवाड खोल दिया। यह आदमी जो इस समय आया, लम्बे कद का डाढी रखाये था, गलमुच्छे थे, और गोल टोपी दिये था। अंदाज से मुसलमान मालूम होता था आते ही बाबू गुलाबचन्द्र को बड़े अदब के साथ झुक के सलाम किया। गुलाबचन्द्र मानो इसे परख रहे थे, बल्कि इन्तजारी करते-करते उकता से गये थे, बोले—शेख जी, आपने तो बड़ी देर की।

शेखजी—हुजूर, हाँ! देर तो बिला शक हुई। आप जानते हैं, ऐसे ऐसे काम क्या सहज में हो जाते हैं। जरा देर तो हुई, पर चीज भी ऐसी है कि हुजूर को खातिर-ख्वाह पसन्द आवेगी। याने मैं बहुत दिनों से इस काम को कर रहा हूँ, पर ऐसी चिड़ियाँ कभी मेरे काँपे में नहीं आई। बहुत देर तक काना-फुसकी और कहकहे के उपरान्त शेख जी बोले—हुजूर, आप जानते हैं, ऐसी कौन-सी बात है कि जिसके लिये कोशिश करो और कामयाबी न हो।

गुलाब—हाँ, इसमें क्या शक है। इसी लिये तो मैंने आपके सुपुर्द इसे किया। जैसी रूह वैसे फिरिश्ते होना चाहिये। अच्छा, तो अब देर क्यों? (पूरन से) पूरन, आरास्त है न?

पूरन—जी हाँ, आपका हुक्म पाते ही मैंने सब साज रक्खा।

गुलाब—शाबाश! अच्छा, तो इसका खातिरख्वाह इनाम पावेगा।

मालूम होता, पर इसके गुप्त चरित्र और काम की ओर जब ध्यान गया तब मधुप बड़े सन्देह में आया कि इसे कौन जाति और किस वर्ण का मानें। जो हो उस गुलाब के तो यह बड़े ही काम का था, बल्कि हाथ की करछुली था, जिसके बिना एक क्षण भी उसे कल न पड़ती थी और सब काम बन्द रहता था। नाम इसका पूरन या फुन्नू था। पढ़ा-लिखा एक अक्षर न था, पर चालाकी से सब विषय में टाँग अड़ा देता था या वहाँ पढने-लिखने का काम ही कौन था।

"लंका निश्चर निकर निवासा।
यहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥"

गुलाब को जब कुछ चुहल करना मंजूर होता था तब यह आपस की चपतबाजी, धौल-धक्कड़, हाहा-ठीठी मे विदूषक बन जाता था। ब्यालू या भोजन के समय बावर्ची या वल्लव का काम देता था। चौसर या गजीफा खेलने मे साक्षात् कंक भट्ट यही बन बैठता था। शाम को हवाखोरी के वक्त कोचवान बन जाता था। कभी-कभी तो सईसी भी निभा देता था। विहार स्थान खिलवत मे घटकबनता था। सच पूछो तो यही इसका मुख्य काम था भी; पूरन क्या यथा नाम तथा गुण सब भाँति पूर्ण बहुगुना बर्तन था—

"लाओ ऐसा नर पीर बावरची बिहिशती खर।"

कहाँ तक पूरन की सिफत लिखी जाय। प्याले पर प्याला जब गर्दिश करने लगता था तब जाम को लबरेज करनेवाला भी यही होता था। शगल जब ओर-छोर को पहुँचता था तब मुर्दे को घसीट खाट पर पटक देनेवाला भी यही होता था।

एक दिन अषाढ़ का महीना आधी रात का समय था। शुक्ल पक्ष की सप्तमी या अष्टमी रही होगी। मेह बरस कर निकल गये थे; बीच-बीच दो-चार बूँदें पडती जाती थीं। पर बादल गडगड़ा रहे थे, आसमान बिलकुल साफ नहीं हो गया था, जिससे बोध होता था कि

३१—परचित्तानुरंजन

ऐसे पुरुष जो परचित्तानुरंजन में कुशल हैं अर्थात् जिनकी सदा चेष्टा रहती है कि हम से किसी को दुःख न मिलै और कैसे हम दूसरे के मन को अपनी मूठी में कर लें, ऐसे पुरुष मनुष्य के चोले में भी साक्षात् देवता हैं। इस लोक और पर-लोक दोनों को उन्होंने जीत लिया। परचित्तानुरंजन या परछन्दानुवर्तन से हमारा प्रयोजन चापलूसी करने का नहीं है कि तुम अपनी चालाकी से।

"मूर्ख छन्दानुवृत्तेन"

के क्रम पर भीतर तो न जानिये कितनी मैल और कूड़ा जमा है। अपना मतलब गाँठने को उसके मन की कह रहे हो, वरन् अपना मतलब चाहें बिगड़ता हो; पर उसका चित्त आजुर्दा न हो। इसलिये जो वह कहे उसे कबूल कर लेना ही परचित्तानुरंजन है।

दिल्ली के बादशाह नसीरुद्दीन महमूद ने एक किताब अपने हाथ से नकल की थी। एक दिन अपने किसी अमीर को दिखला रहा था। उस अमीर ने कई जगह गलती बतलाई। बादशाह ने उन गलतियों को दुरस्त कर दिया। जब वह अमीर चला गया तब फिर वैसा ही बना दिया जैसा पहिले था। लोगों ने पूछा, ऐसा आपने क्यों किया? बादशाह ने कहा, मुझको मालूम था कि मैंने गलती नहीं की, लेकिन खैरखाह और नेक सलाह देनेवाले का दिल दुखाने से क्या फायदा? इससे उसके सामने वैसा ही बनाय यह मेहनत अपने ऊपर लेनी मैंने उचित समझा। व्यर्थ का शुष्कवाद और दाँत-किट्टन करने की बहुधा लोगों की आदत होती है। अन्त को इस दाँत-किट्टन से लाभ कुछ नहीं होता। चित्त में दोनों के कशाकशी और मैल

मधुप जो चुपचाप मौन साधे यह सब लीला देखता रहा, चित्त मे बहुत ही घिनाया और कहने लगा—मैं कहाँ ऐसे ठौर आ फँसा, अब कैसे छुटकारा पाऊँ।

"अग्रग्रासन समये मक्षिका सन्निपातः।"

संसार के कौतुक-रूप मधु के पान की लालसा से मैं निकला था और इच्छा थी विचर-विचर इस अनोखी-वाटिका मे जिसे संसार कहते हैं, जहाँ अच्छे से अच्छा मधु मिले उसे पिऊँ, पर यहाँ इस घाटे मे मुझे ऐसा विषाक्त पुष्परस पीने को मिला कि कलेजा भौंस गया; आशा-लता बिलकुल कुम्हला गई; जो देखने मे बड़े भव्याकृति और चेष्टा से जिनके शिष्टता, सभ्यता, बड़प्पन बरस रहा है उनके गुप्त आचरण इतने महा मलिन और दुर्गन्धि-पूरित हैं तब ओछे छिछोरे क्षुद्र जनों का क्या ठिकाना!

(आकाशवाणी)

मधुप! इतने से ही उकता गया। अभी तो तुझे बड़ी-बड़ी लीलाये देखना है। मत घबड़ा। उनसे भी तेरी भेंट होगी, जो तुझे वास्तव में अपने सुचरितामोद से तेरा चित्त प्रमुदित कर देगे चुपचाप मौन साध जैसा रस तुझे पीने को मिलै पी ले।

पाठक! आप जानते हो, मधुप प्रत्येक फूलों से लै थोड़ा-थोड़ा जमा करता रहता है। आज का यह क्षुद्र प्रस्ताव मधुप के चिरकाल का संग्रह है। इससे जो आप का कुछ भी चित्त-विनोद हुआ तो इसी का शेष फिर कभी आप के करण गोचर करावेगे। तब तक हमारे मधुप को और सञ्चित कर रखने का पुनः अवकाश भी मिल जायगा।

मई १९०१

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय ।
अनर्हते मानिने नैवमादा गोपाय मांश्रेयसी तथाहमस्मि ।
विद्या साद्धं म्रियेत न विद्या मूषरे वपेत् ॥

कितने लोग ऐसे हैं जिनके मधुर कोमल शब्दों में मानो फूल झरते हों। श्रुति-मनोहर उनके वदनाब्जानिःसृत पदावलियों के एक-एक शब्द पर जी लुभाता है। किन्तु कितने कटुवादी खल ऐसा अरुन्तुद बोलनेवाले हैं कि वे जब तक दिन में दो-चार बार मर्मताड़न कर किसी का चित्त न दुखा लें तब तक उन्हें खाना नहीं हजम होता। ऐसे दुष्टों का जन्म ही इसलिये संसार में है कि वे अपने वाग्-वज्र से दूसरों का हृदय विदीर्ण किया करें।

"अतीव रोषा कटुका च वाणी नरस्य चिन्हा नरकागतानाम्।"

वाक्-संयम इसीलिये कहा गया है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई शब्द हमारे मुख से ऐसा निकल जाय कि उसमे दूसरे के चित्त को खेद पहुँचे। शील के सागर कितने पुरुष-रत्न चारुदत्त-से चारु-चरित्र ऐसे हैं जो अपना बहुत-सा नुकसान सह लेते हैं; पर लेन-देन में कड़ाई के साथ नहीं पेश आया चाहते और न वे दूसरे का जी दुखाते हैं। निश्चय ऐसे लोग महापुरुष हैं, स्वर्गभूमि से आये हैं और स्वर्ग में जायँगे। जो परचित्तानुरञ्जन में लौलीन हैं, उनके समकक्ष मनुष्य-कोटि में ऐसे ही कहीं कोई होंगे। यह परच्छन्दानुवर्तन दैवी गुण वहीं अवकाश पाता है, जहाँ दर्प-दाह-ज्वर की ऊष्मा का अभाव है। अहंकारी को कभी यह बुद्धि होती ही नहीं कि हम किसी के चित्त को न दुखावें; वरन् परछिद्रान्वेषण ही में उसे सुख मिलता है। दूसरे की ऐंठजोई को वह अपने लिये दिल-बहलाव मानता है। अभिमान से देवदूत और फरिश्ते भी स्वर्ग से च्युत किये गये। तब जिसमें यह शैतानी खसलत है, उसका तुलना परचित्तानुरञ्जक के साथ क्योंकर हो सकती है। यह दर्प-दाह-ज्वर धनवानों को बहुतायत के साथ सवार

अलबत्ता पैदा हो जाती है। बहुधा ऐसा भी होता है कि हमारी हार होगी, इस भय से प्रतिवादी का जो तत्त्व और मर्म है उसे न स्वीकार कर अपने ही कहने को पुष्ट करता जाता है और प्रतिपक्षी की बात काटता जाता है। हम कहते हैं, इससे लाभ क्या? प्रतिवादी जो कहता है उसे क्यों न मान लें उसका जी दुखाने से उपकार क्या—

"फलं न किंचित् अशुभा समाप्तिः।"

सिद्धान्त है—

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे-तुण्डे सरस्वती।"

बहुत लोग इस सिद्धान्त को न मान, जो हम समझे बैठे हैं, उसे क्यों न दूसरे को समझावें, इसलिये न जानिये कितना तर्क कुतर्क शुष्कवाद करते हुये ऑय-बॉय बका करते हैं। फल अन्त में इसका यही होता है कि जी कितनों का दुखी होता है। मानता उसके कहने को वही है जिसे उसके कथन में श्रद्धा है। हमारे चित्त मे ऐसा आता है कि जो हमने तत्त्व समझ रक्खा है उसे उसी से कहें जिसे हमारी बात पर श्रद्धा हो। मोती की लरियों को कुत्ते के गले मे पहिना देने से फायदा क्या? अस्तु, हमारे प्राचीन आर्यो ने जो बहुत-सी विद्या और ज्ञान छिपाया है उसका यही प्रयोजन है। जिसे इन दिनों के लोग ब्राह्मणों पर दोषारोपण करते हैं कि ब्राह्मणों ने विद्या को छिपाया, सबों को न पढ़ने दिया।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥

विद्या ब्राह्मण से यों कहती है—मैं तुम्हारा खज़ाना हूँ, मुझे गुप्त रक्खो, निन्दक तथा गुण में दोष निकालनेवाले मत्सरी को मत बतलाओ, ऐसा करोगे तो मैं तुम-सी अत्यन्त वीर्यवती हूँगी। छान्दोग्य-ब्राह्मण में भी ऐसा ही कहा है—

नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्नचरणैरवताडनानि ॥

परचित्तानुरंजन के प्रकरण मे इतना सब हम अप्रासंगिक गा ग
पढ़नेवाले कहेंगे व्यर्थ की अलापचारी मे यह पत्र की जगह छेक
है। सो नहीं परचित्तानुरंजन चरित्र-पालन का प्रधान अंग है।
दूसरे के चित्त को अपनी मूठी में कर लेना सीखे हैं और इस हुनर
प्रवीण हैं, वे चरित्रवानों के सिरमौर होते हैं। "स्माइल्स आन
क्टर" मे यही बात कई जगह कई तरह पर दर्साई गई है। पा
आप भी यदि चरित्रवान् हुआ चाहो, तो परचित्तानुरंजन मे
लगाओ, सो भी कदाचित नापसंद हो तो एक वार हमारे इस
को तो पढ़ लो। देव-वाणी अँगरेजी के लेख पढ़ने की आदत पड़
है। पिशाच-भाषा हिन्दी का लेख पढ़ने मे अपनी हतक समझ
तो लाचारी है। हमारे भाग मे करतार ने इसी पिशाचिनी की
करना लिख दिया है तब क्या किया जाय?

जून १९०६

रहता है। हमारा यह लेख उन्हीं के लिये विशेष रसाञ्जन है। निष्किंचन जो सामान्य मनुष्य के सामने भी गिड़गिड़ाया करता है, उसको इस रसाजन की क्या अपेक्षा है।

बहुत से ऐसे भी लोग हैं, जिनकी चाल और ढङ्ग कुछ ऐसा होता है कि उसे देख चित्त में विषाद और कुढ़न पैदा होती है।

यद्यपि का नो हानिः परकीयां रासभो चरति द्राक्षाम्।
असमंजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः॥

किसी दूसरे के दाख के खेत को गदहा चरे लेता है; हमारी यद्यपि इसमें कोई हानि नहीं है किन्तु यह असमंजस सा मालूम होता है कि दाख के खेत को गदहा चरे डालता है, यह समझ चित्त को खेद होता ही है। गर्वापहारी परमेश्वर की कुछ ऐसी महिमा है कि इस तरह के तुच्छ मनुष्यों को कोई ऐसा धक्का लग जाता है कि उनकी सब ऐंठन विदा हो जाती है और तब वे राह पर आ जाते हैं। और तब भी जो सीधे रास्ते पर न आये, उन्हें या तो बेहया कहना चाहिये या समझना चाहिये कि उनका कुछ और अमंगल होनहार है। सोने की नाईं चरित्र की परख भी कसे जाने पर होती है। कसने से जो खरा और शुद्ध-चरित्र का निकला वह लोक में प्रतिष्ठा और कदर के लायक होता है और जो दगीला और खोटा निकल गया वह फिर किसी काम का नहीं रहता। समाज में सब लोग उससे घिन करने लगते हैं जो घिन के लायक हैं। उनके जीवन से फल क्या—

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्निहि सर्व लोकानां विशीर्येत वनेथवा॥

चरित्रवान् मनस्वी फूलों के गुच्छा समान हैं। फूल या तो सबों के सिर पर चढ़ेगा, नहीं तो जहाँ फूला है, वहीं कुम्हला के पेड़ के नीचे गिर पड़ेगा। कविवर भवभूति ने भी ऐसा ही कहा है—

रहता है। हमारा यह लेख उन्हीं के लिये विशेष रसाञ्जन है। निष्किंचन जो सामान्य मनुष्य के सामने भी गिड़गिड़ाया करता है, उसको इस रसाजन की क्या अपेक्षा है।

बहुत से ऐसे भी लोग हैं, जिनकी चाल और ढङ्ग कुछ ऐसा होता है कि उसे देख चित्त में विषाद और कुढ़न पैदा होती है।

यद्यपि का नो हानिः परकीयां रासभो चरति द्राक्षाम्।
असमंजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः॥

किसी दूसरे के दाख के खेत को गदहा चरे लेता है; हमारी यद्यपि इसमें कोई हानि नहीं है किन्तु यह असमंजस सा मालूम होता है कि दाख के खेत को गदहा चरे डालता है, यह समझ चित्त को खेद होता ही है। गर्वापहारी परमेश्वर की कुछ ऐसी महिमा है कि इस तरह के तुच्छ मनुष्यों को कोई ऐसा धक्का लग जाता है कि उनकी सब ऐंठन विदा हो जाती है और तब वे राह पर आ जाते हैं। और तब भी जो सीधे रास्ते पर न आये, उन्हें या तो बेहया कहना चाहिये या समझना चाहिये कि उनका कुछ और अमंगल होनहार है। सोने की नाईं चरित्र की परख भी कसे जाने पर होती है। कसने से जो खरा और शुद्ध-चरित्र का निकला वह लोक मे प्रतिष्ठा और कदर के लायक होता है और जो दगीला और खोटा निकल गया वह फिर किसी काम का नहीं रहता। समाज में सब लोग उससे घिन करने लगते हैं जो घिन के लायक हैं। उनके जीवन से फल क्या—

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्निहि सर्व लोकानां विशीर्येत वनेथवा॥

चरित्रवान् मनस्वी फूलों के गुच्छा समान हैं। फूल या तो सबों के सिर पर चढ़ेगा, नहीं तो जहाँ फूला है, वहीं कुम्हला के पेड़ के नीचे गिर पड़ेगा। कविवर भवभूति ने भी ऐसा ही कहा है—